

मरजीवा

रमेश चन्द्र मिश्र



देववाणी-प्रकाशनम्, दिल्ली



खरी कसौटी गम की, खोटा टिक न कोय ।
राम कसौटी सो टिक, जो मरजीवा होय ॥



मरजीवा

[रचनाएँ]

रमेशचन्द्र मिश्र

१९८४



प्रकाशक

देववाणी-प्रकाशनम्,

६, वाणी-विहारः, नयी दिल्ली-११००५६

मरजीवा [रचनाएँ]

- © : डॉ० रमेशचन्द्र मिश्र
ए-१/३४१, जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५५
- मूल्य : बीस रुपए
- संस्करण : प्रथम १९८४
- प्रकाशक : देववाणी-प्रकाशनम्
६ वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५६
- मुद्रक : प्रवीण प्रिंटिंग सर्विस
३५ टी एक्सटेंशन, उत्तम नगर, नयी दिल्ली-५६

एक साखी :

खरी कसौटी राम की, खौटा टिकै न कोय ।
राम कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय ॥

और एक दोहा :

लव निमेष परमानु जुग, वरष कलष सर चंड ।
भजसि न मन तेहि राम को, कालु जासु कोदंड ॥

की

प्रतिबद्धता में

—रमेशचन्द्र मिश्र



समर्थन में शायद :

‘व्यक्ति और अभिव्यक्ति’ (सन् १९६७), ‘होगा कब नामकरण’ (सन् १९७२) एवं ‘एक विश्वास और’ (आख्यान काव्य : सन् १९७५) के बाद ‘मरजीवा’ मेरा नया रचना-संसार है। इस संग्रह का नाम ‘पंख जला मैं’ रखना चाहता था, किन्तु मरजीवा प्रबल हो गया। आज मेरा ‘मैं’ निरन्तर जीवन के बीच गतिशील बना रहकर, विकसनशील अध्यात्म का अनुभव करता हुआ, ‘मैं’-‘तुम’ से ‘हम’ में विलय होता हुआ, समाज के बीचोबीच खड़े होने की स्थिति में आ गया है। ‘राम’ की, ‘वर्तमान’ की अनुभूति को आचरण में उतारने की बेचैनी मुझ से कविता करवा लेती है। जिस पीड़ा-संवेदना का मैं अनुभव करता हूँ, विसंगति को जीता हूँ, वही शायद काव्यमय हो? वैसे अब मैं अपने को कवि नहीं मानता; फिर भी ‘कवि होने’ ‘होते रहने’ की मानसिकता बनो रहती है। रस-रीति का ‘तीजापन’ जब-जब अँकुराने लगा है, तब-तब ही रचना कर सका हूँ। बीज से अँकुर होने में मुझे सुख मिलता है और ‘देखने’ में साक्षीपन। सच तो यह है कि मैं अपनी रचना में एक शब्द, एक ध्वनि, एक कियाशील प्रतिध्वनि ही होता रहा हूँ। मैंने अभिव्यक्ति की असामर्थ्य का भी अनुभव किया है। अपने विषय में क्या कहूँ, कहते नहीं बनता। अपनी मानसिकता की प्रेरक-भूमि दादू की इस साखी को, अपनी ही समझकर, बात का समाहार किए दे रहा हूँ—

जेहि लागी सो जागि है, वेध्या करै पुकार।

दादू पिंजर पीड़ है, सालै बारंवार ॥

अनुक्रम

	पृष्ठ
१. युद्ध : एक आत्मग्लानि	६
२. पंख जला 'मैं'	१५
३. धातु-आदमी	१७
४. स्वत्व	२०
५. दुस्साहस किया	२३
६. मरजीवा	२४
७. एक : फिर एक	२५
८. मेरे पिता और मैं	२८
९. धर्म पिता और मैं	३०
१०. मेरा जूता	३२
११. आप सब : अकेले हम	३६
१२. कुँवारी कामना	३८
१३. घाटी में जीवन	४२
१४. परिवेश	४३
१५. नारी : दर्जी की कला	४५
१६. आवाज़ का आदमी	४६
१७. जमाखोर	५१
१८. युद्ध विधवा	५४
१९. नित नवीन मेरा स्वर	५७
२०. किसान-कवि	५९

डायरी के कुछ पृष्ठ :

१. गुलाव और गुलमोहर, २. मोमवत्ती, ३. जंगल का यथार्थ, ४ दृष्टि,
 ५. श्वासों का व्यौरा, ६. शिशु और कलिका, ७. विचार, ८. सत्य को
 निकट से देखना, ९. जीवन की पोषक धारा, १०. आदमी का संघर्ष, ११. धन
 का वितरण, १२. पसीने का अमृत स्पर्श, १३. आँसू का खारापन, १४. आँसू
 भी सूख गए, १५. सुविधा सरोवर के किनारे खिले गुलाव, १६. दुःख एक
 विश्वसनीय मित्र, १७. प्रतीक्षा और उपेक्षा, १८. शकुन, १९. माता भूमिः
 पुत्रोऽहम् पृथिव्याः, २०. भूमि-का, २१. कितनी साधना की है तुमने,
 २२. दिशा-भ्रम, २३. व्यापक झूठ-सच, २५. समर्पण, २५. स्मृति-चिह्न,
 २६. 'न कुछ' भला, २७. अन्तिम साधना : आत्मवान् होता है ।



युद्ध : एक आत्मग्लानि

युद्ध—

समाप्ति ?

शान्ति की व्याप्ति ?

कल सेनापति ने कहा था—

लेना कल अगला शहर

बोलना है धावा

दुश्मन के ठिकानों पर

राष्ट्र का बुलावा ।

और तब

हाथ बढ़ाकर लिए हथियार—

किन्तु, हुआ था ऐलान—

‘जेनेवा कन्वेंशन के अनुसार

युद्ध वन्दियों के साथ—

होगा अच्छा व्यवहार,

डाल दो हथियार ।’

रेडियो—

‘देश की शान सैनिक के हाथ,

स्वतंत्र होगा देश,

मुक्तिवाहिनी के साथ ।

वीरगति पाना, धर्म को निभाना

स्वधर्मो निधनं श्रेय,

सत्यमेव जयते ।’

और तभी रेडियो दूसरे देश का बोला—

‘लड़ेंगे हजार साल तक

देश की एकता

मक्कार दुश्मन से वास्ता,

ताक़त से लेंगे अपना हक़,

हम हैं बहादुरों की सन्तान,

मज़हब केलिए जीना है

जान भी कुर्बान,

अपना ईमान ।

बोलो ज़ेहाद—

मुल्क हमारा, पायन्दावाद ।’

पर,

मज़हब क्या है इन्सान का

सत्य क्या है भगवान का ?

सिपाही के द्वारा खून सिपाही का ?

सिपाही, सिपाही से हथियार डलवाता है,

छल-कपट, नाम धर्मयुद्ध का कहाता है ।

नहीं- - नहीं- - -

सिपाही युद्ध बन्द नहीं कर सकता ।

सिपाही युद्ध शुरू भी नहीं करता,

सिपाही गोली चलाता है,

सिपाही-सिपाही के गोली मारता है,

लेकिन सिपाही युद्ध बन्द नहीं कर सकता ।

सोचता हूँ.....

सिपाही-सिपाही के खून में अन्तर क्या ?

शायद हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई ?

शायद पाकिस्तानी-हिन्दुस्तानी ?

शायद अमरीकी-वियतनामी ?

शायद इराकी-ईरानी ?

शायद अरबो-इजरायली ?

शायद नहीं ?

क्या सिपाही चली हुई गोली वापस ले सकता है ?

क्या सिपाही मौत को जीवन दे सकता है ?

मरे थे, मेरी गोली से पच्चीस सिपाही

क्या नहीं थे वे भी मेरे भाई ?

नहीं-नहीं - - दुश्मन ?

मरी थीं दो औरतें, तीन बच्चे भी,

तब फूला था मेरा मन

दिखाई थी वीरता ?

मेरी घातक बन्दूक ने—

उगला था धुआँ,

जिससे ऊँचा हुआ था,

एक देश का झंडा,

ताक़त का डंडा ।

सैनिक ने सैनिक का खून वहाया है,

एक देश को खुशियाँ मनाने का

अवसर दिलाया है,

गूँजती रही है आवाज़ जो,

जिसे सुन रहा हूँ अब भी मैं—

हमारे देश के जवान,

वीरों की सन्तान,

दुश्मन-ठिकानों पर अचूक निशाना लगाते हैं,

फौलादी वीर हैं ये,

पावन कर दी है भूमि देश की,

अपने खून की लालिमा से इन्होंने ।

‘फिर-फिर लगाया है इन्होंने टीका,

दोस्ती का ।

यदि सैनिक मनोबल ऊँचा,

तो देश-मस्तक भी ऊँचा ।

युगों से देश की जड़ मिट्टी—

सिपाही ने जीवित खून से सींची है ।

युद्ध : एक आत्मग्लानि

[ग्यारह]

आज से युद्ध बन्द,
 होगी शान्ति फिर ?
 नहीं-नहीं चीत्कार ।
 देख रहा हूँ मैं,
 गीदड़ों की आवाज़ ।
 रण-क्षेत्र छोड़कर
 होगा युद्ध गली-गलियारों में अब,
 होगी घुराहट रंगे हुए सियारों में अब
 मरे हुए मांस के लिए,
 छीछालैदर, बड़बोली आवाज़ें,
 किसने तोड़े थे टैंक अधिक,
 और किसने, कितने किए सर क्रोश,
 वीरों का जोश ।
 मृतक सिपाही का नाम
 वीर-चक्र, परम वीरचक्र इनाम ।
 वीरगति पाई, किन्तु सिपाही-विधवा
 विधवा !
 समाज से बहिष्कृत-अपमानित,
 अमंगला ?
 वीर सैनिक की विधवा ?
 दगे कुछ समाज सेवी-गद्दार,
 लुटेरे-जमाखोर, भाषण धुआँधार,
 मृतकों को, वीरता के नाम
 कुछ दान, समाज कल्याण, इनाम ।
 बच्चे, विधवा-माँ की आँखों की रोशनी ?
 सिपाही ने छीनी ।
 युवती पत्नी की आँखें खुली रहेंगी—
 कुछ समय तक,
 फ्यूज़ बल्ब की रोशनी की तरह
 जीवन-खम्भे पर ।
 कभी-कभी, शायद आँसू पोंछकर,

कहेगी वह—

‘मैं कायर नहीं वीरपत्नी हूँ,
अर्पित किए हैं मातृभूमि पर सहर्ष—

अपने जीवन सपने मैंने ।

फिर यादों की विद्युत्धारा से जुड़कर,

कभी-कभी मुड़कर,

जीवन-काष्ठ पर अंकित

किए रहेगी वह एक मूर्ति,

अभाव की पूर्ति ।

चढ़ाती रहेगी वह फूल मालाएँ

जीवन में कुछ वर्षों तक,

वीर पति की तस्वीर पर,

और कहती रहेगी

सिपाही का बेटा-भाई

परम्परा निभाएगा ।

देश की मिट्टी के लिए

वीरता अपनाएगा ।’

अथवा

विजयी सैनिक होकर,

अहम् से भरकर,

सैकड़ों को भूनेगा,

मानवी खून बहाएगा,

और मेरी ही तरह तड़फेगा,

शायद आत्मग्लानि से ?

युद्ध की प्रेरणा गीता,

गीता में कृष्ण ने कहा है—

‘चला तीर अर्जुन ! शत्रु सामने खड़ा है,

पहले ही ये मार दिए गए हैं मेरे द्वारा

तू बस मेरा अनुगामी होजा ।’

आज मेरे हृदय का खीझ भरा—

युद्ध : एक आत्मग्लानि

[तिरह]

अर्जुन फिर कहता है—

‘मैं क्यों माध्यम बन जाऊँ योगेश्वर ?

स्वयं तुम ही क्यों नहीं माध्यम बन जाते ?

अरे ओ मन के विजयी अर्जुन !

तू कब तक माध्यम बनेगा ?

कब तक आत्मग्लानि सहेगा ?

यह महाभारत तो सृष्टि तक चलेगा ।

काश ! मैं मात्र माध्यम बन पाता ।

काश ! मैं मानव न होकर—

कृष्ण की तरह कुछ कह पाता ?’

पंख जला 'मैं'

जब मेरा मन
'संपाती' बन
कर्म-सूर्य को देखता है,
तो उत्साह तूर्य से भरकर
निरन्तर चढ़ता हुआ; बढ़ता हुआ,
घेरता हुआ सूर्य घेरे को,
प्रवेश करता है आलोक पुँज में
ऊर्ध्वमुखी होकर ।
ताप से तापित होने की शक्ति लेता हुआ,
जलन से जीवन अनुरक्ति लेता हुआ
कर्म-दिवा में व्याप्त हो जाता है ।
सोचते हुए—
'आलोक' आलोकित करना है,
ताप को तापित करने के लिए
सविता के रथ से, भुवनों को देखना है ।
देखना है—
'अहम्' को विकसित करने की कितनी क्षमता है,
योगी अपने में ही रमता है ।

और फिर—

यथार्थ की ऊष्मा से उसके पंख जल जाते हैं ।
और पंख जला 'मैं'
सागर तट पर धड़ाम से गिर जाता है,
पड़ा रहता है वहाँ 'रामदूत' की प्रतीक्षा में ।

पंख जला 'मैं'

और जब कभी मेरा मन

'जटायु' बन,

अनुभव वृद्ध होकर,

प्रतिद्वन्द्विता छोड़कर

उत्कर्ष की, भौतिक उत्कर्ष की राह त्याग देता है,

सोचते हुए कि—

मैं तो केवल माध्यम हूँ 'राम' के कार्य का,

जब चाहते हैं तब वे ही

मेरा उपयोग कर लेते हैं

'रावण' से जूझने, सीता-मुक्ति की शक्ति देते हैं।

किन्तु, तब भी पंख कटते हैं,

और पंख कटा 'मैं'

राम की प्रतीक्षा में पड़ा रहता है।

'पंख' जलने और कटने की प्रक्रिया में अन्तर है,

अन्तर यह अनुभव का, अनुभव का,

सूरज की गर्मी में पंख जलने का

अनुभव है धरती का।

धातु-आदमी

परम्परा-सारंगी बजाने वाला—
गज-आदमी जीवित है,
जिसका जीवित भर रहना जरूरी भी,
जड़-संगीत की स्वरवत्ता केलिए ।
व्यवस्था-ढोलक के साथ-साथ
आँखें वन्द करके,
आम आदमी
तालियाँ बजाता रहता है
राजनीति-बरछी की छलभरी वक्रता
वह समझ नहीं पाता ।
इसलिए—
प्रजातन्त्रीय वोट-भाले को
वह उस खोल में डाल देता है
जिसके अन्दर—
'खाली अन्धेरा' रहता है ।

कुर्सी रक्षक,
चाबी अपने हाथ में रखकर
सभी दरवाजे वन्द कर चुके हैं,
और—
ताला खोलने केलिए,
गड़क पर मुनादी करा रहे हैं,

धातु-आदमी

[सत्रह]

साथ ही—

वांट रहे हैं अनेकानेक चावियाँ

विकास-द्वार खोलने के लिए ।

और आदमी, बेशक मान बैठा है

चावी की ईमानदारी और ताले की खराबी को ।

बहुत ऊँचा खड़ा है

आज झण्डे का डण्डा

पर उसके ऊपर फहराने

वाला कपड़ा-अनजीवन,

दम्भ के नीचे बिछा पड़ा है ।

इधर, कुछ कानाफूँसी हो रही है,

इकट्ठे हो रहे हैं कुछ,

जिनके हाथों में लाठी-कुदाल और

‘पैना’ दिख रहा है,

मुद्रा-तेवर बिल्कुल बदले हुए लगते हैं उनके ।

लगता है अब—

मूल्यांकित होना है

धातु-आदमी का श्रम

और जीवन-गंगा को,

रूपाभ शिखरों से,

नीचे उतरना है ।

एक बार फिर

जड़ीभूत बर्फ को

पिघलाने के लिए

तोड़ने के लिए—

भगीरथ-आदमी का मूल्यांकन होना है ।

वाज़ार में

धातु का मूल्य,

अब क्या रह गया है ?

[अठारह]

मरजीव

मुझे तो लगता है कि
धातु-आदमी अब भी खरा है ।

कहते हैं वे
ऊपर से, कि—
अब नीचे से धातु खोटी हो चली है,
इसीलिए तो—
पुलिस, लाठी लिए खड़ी है,
आज एक तर्जनी
वर्द्धमान भीड़ को, ढालने में लगी है ।

किन्तु,
मुझे साफ दिख रहा है कि
डण्डा-इशारा कुर्सी से चला है,
जो हमेशा—
भैंस-भेड़ों पर ही पड़ता रहा है ।

स्वत्व

बटलोई बड़ी अमीर की,
लोटा छोटा है गरीब का ।
पेट तवे का, कड़ाही से छोटा है,
फूँकनी में फूँक जाती प्राणों की ऊर्जा,
पकड़ सदा चिमटे की सामन्ती रहती ।
चमचों का बहुमत है,
साथ हैं कटोरियाँ,
मात-भात खाता रहा
श्रमिक-उदर-चूल्हा ।

उधर, बन्द कमरे में दिख रहा—
आकर्षण सुराही का,
सुन्दर सुराही जो
दिखती सावन के अन्धे को ।
जन-जीवन मिट्टी का 'करवा' है
लुढ़कता फिरता जो चारों ओर,
दीखता नहीं सुविधा के अन्धों को,
कन्धों पर जिन की,
सौभाग्य लक्ष्मी बनाने,
संसद की पूजा में,
कभी-कभी अर्घ्य उससे चढ़ाते,
चुनाव-चन्द्र करवा की चौथ है ।

अन्यथा—

फैंक दिया जाता वह
सामन्ती महलों से ।

अहरन और घन-पुरुष लोहों के
देखे तो सभी ने हैं,
इनमें एक रुढ़
गड़ा रहता घमण्ड में,
दूसरा गति देता मानवीय ऊर्जा को ।
सच तो है कि—

समाज तराजू का सन्तुलन
मध्यस्थ काँटे पर निर्भर रहता है
और हर वेईमान हरकत
आँकी जाती रही अब तक,
इसी न्यायाधीश काँटे पर ।

आन्तरिक स्वत्व—

शीशे और चाँदी-सा,
परखा जाता रहा व्यवहार की पटक पर,
लेकिन, निर्धन का शीशा
किरच-किरच होकर,
चुभता रहा उसके ही पाँवों में ।

किन्तु प्राणहीन चाँदी
ढलती रही सुविधा में ।
'स्वत्व' जिनका बेमानी,
वे टूटने का मूल्य नहीं जानते,
स्वत्व के रहे बिना
पात्र का मूल्य क्या ?
जब आपा-धापी मची हो कुर्सी के नीचे,

स्वत्व

[इक्कोस]

फिर मूल्य क्या, माप क्या ?

मूल्य यदि बदलें तो

माप सही होगी मूल्यवान्,

नहीं तो—

ढोते रहो

मूल्यहीन जीवन को,

अन्तहीन जंगल में ।

दुस्साहस किया

मैंने एक दुस्साहस किया—

कैकटस-काँटों के ऊपर,
फूलों से लदे एक गुलमोहर गुच्छे को,
कमरे की शोभा बढ़ाने
फूलदान सजाने केलिए,
तोड़ने को तत्पर दलाल-माली को
तोड़ने नहीं दिया ।

दूसरे दिन सुना लोगों से—

‘फूल तो फूल ही, काँटे हैं अन्त में,
काँटों की झिन्दगी फूलों से बेहतर है,
फूलों का जीवन काँटों के सहारे,
असलियत हमारी काँटों के किनारे,
अभाव-काँटे जो देते अनुभवी पीड़ा
और पीड़ा की अनुभूति गहरी
वह समता की सम्पत्ति नहीं तब तक,
नॉक चुभती न रहे जब तक ।
काँटों से जो डरा
वह फिर क्या जिया ?’
मैंने एक दुस्साहस किया,
काँटे की नॉक को चेतना में चुभा लिया ।

दुस्साहस किया

[तेईस]

मरजीवा

शीत लहर

टकराती रही गर्माहों से,

जीवन-दंशिनी फूटकार -

भेदती रही मनोभावों को ।

पर—

चुनौती-संघर्ष ही तो जीवन है,

या फिर

संघर्ष में से अस्तित्व को चुनना,

रहता नहीं जब यह,

तो—

लगता है ज़िन्दगी नहीं,

जी रहा हूँ मौत को

मरजीवा होकर ।

एक : फिर एक

दो में से दो घटाने पर
बचता है एक ।
आज की हिसाबी किताब में
बेहिसाब बढ़ गए हैं आँकड़े अनेक ।
जानते हैं सब जीवन का चलन-व्यवहार,
कि दो और दो मिलकर होते हैं चार ।
नहीं होता कभी,
दो और दो का गुणनफल
चार के पार ।
फिर भी, अधिकतर
बचता है 'एक' घटकर ।
घटना का 'एक' बनाता है अनुभवी
और रखता है जीवन को व्यस्त,
जिसमें दीखता है एक
और फिर एक,
हम समस्त ।
किन्तु—
दो अलग-अलग,
जुटे हैं बनाने मन का धन
हो रहा निःशेष जीवन ।
आज 'एक' में एक—

पूरी तरह 'फिट' नहीं हो पा रहा है
फलतः अभाव बना रहता है
और अभाव की पूर्ति
समाधान नहीं,
समस्या उगाती है ।

विज्ञान की हिसाबी वृत्ति
सर्वसम्मत स्वीकृति बन गई है,
इसलिए हम भूल रहे हैं 'एक' की
प्रथम शर्त भी ।
घटाना, भाग देना—
जीवन-गणित का,
आवश्यक प्रमेय बनाता रहा है ।

बड़े-छोटे में होती रही हलचल
आकुल बनता रहा मन का दिशान्तर
सागर का ज्वार
और ज्वार की ऊँचाई
जल पर छा जाती है काई
हम भूल जाते हैं गहराई ।

ग्राह्य बनता सदा दूध
विवशता की ऊष्मा पाकर
वह उफान और उवाल की
प्रक्रिया से संतुलित बना रहता है
पर, मात्र उफान के झाग को
जीवन-अनुभव समझ लेता आदमी ।
यह जीवन-मूल्य नहीं,
मूल्य तो निश्चित होता है—
'जीवन' के जोड़ से,
भाग से सन्तुलित होती है प्राणों की वसुन्धरा
बन्धुवर, अभावों के गुणनफल से,

नया रूप मिलता जीवन को
 आचरण में व्याप्त होती समता,
 अन्यथा,
 जब निज जोड़ ही जोड़ होता है
 तब छा जाती चारों ओर
 न बरसने वाली घटा,
 और घन-गर्जन भी ।
 क्षणिक विद्युत् संकेत पाकर
 चित्तभूमि
 आगे-पीछे बढ़ती जान पड़ती है
 यद्यपि, वह शब्द से बँधी रहती है,
 लेकिन, जोड़ को विजली ही विभाजित करती है ।

मौसम-उमस पहचानना ही
 समय-सिद्धान्त है मित्रवर !
 दो का गुणनफल अथवा जोड़,
 अच्छा नहीं लगता समाज में,
 पर, दिखाई देता है 'जोड़' ही जोड़ सुखान्तवत्
 बातें ही बातें चारों ओर दृश्यान्त तक ।
 प्रेय में से श्रेय वांटकर
 भाग देकर,
 बचता है जो 'एक' वह
 संख्या की भीड़ में भी,
 निश्चित ही बनता है मूल्य एक ।
 विकास-समता,
 एक और एक ग्यारह की क्षमता ।

मेरे पिता और मैं

सम्बत्सर-सागर-तट पर
बड़े विश्वास के साथ बैठ कर
मेरे पिता ने चुने थे
कुछ सिकुले-सीप-मोती,
कहते हैं—
रक्षित हुई थी जिससे जीवन-ज्योति,
और लग गया था डेर
उनके चारों ओर
आदर्शों का,
जिसके नीचे शायद उनका
'स्वयं' दब गया था ।

जीवन-तट पर बैठा 'मैं'
जो पगाए से अपनों में
कर दिया गया हूँ न्यस्त
देखते हुए समस्त
अत्यन्त व्यस्त ।
साथ ही इकट्ठा कर रहा हूँ यथार्थ
सोना-चाँदी-तावाँ लोहादि,
अत्यन्त 'ठोस' पाने के लिए
युग बनाने के लिए
और इस प्रक्रिया में

इकट्ठी हो गयी है बालू
चमकती हुई बालू,
मेरे चारों ओर
ओर छोर ।

सोने-चाँदी का भ्रम
चल रहा है क्रम ।
और अब—
सोचता हूँ
'ठोस' न सही
बालू से तेल अवश्य निकलेगा
पर, जीवन का स्रोत कहीं—
बालू के नीचे दबा मिलेगा ।

धर्मपिता और मैं

मेरे धर्मपिता ने
मुझ बेकार को,
नहीं दिलवाई कार;
पर, दिलवाई नौकरी।
पत्नी की कार पर
और आवास रहने को
वायुयान-यात्रा।
विदेश-भ्रमण
और भी मिले अनेक आश्वासन ।
किन्तु, मुझे दिया है उन्होंने
एक अद्भुत 'होल-डोल'
आशाओं से भरा हुआ
और आश्वस्त कर दिया
मुझ दीन-हीन निरुपाय को
दान देकर कन्या का ।
स्वयंवर में मैंने वरा है उसको;
मारकर अपने 'स्वयं' को ।
मेरे और उनके बीच 'धर्म' का नाता है
इसीलिए लोक में पिता से बढ़कर
'धर्मपिता' होता है ।
और—

पत्नी से बढ़कर 'धर्मपत्नी' ।
 अब धर्मयुग समझा है मैंने
 तभी तो शुरु की है जपनी माला,
 जिन्होंने—
 महत्त्व का आकार देकर
 मुझ निराकार को
 साकार बना दिया है
 जीवन-उद्धार किया है ।

मेरा जूता

मेरे पैर को काटता है
मेरा जूता ।
यानी जब से पहना है इसे
दिल-दिमाग को बेचैन बनाए रखता है ।
बड़ी बेचैनी है मुझे
या तो जूता बड़ा हो
अथवा पैर छोटा ।
शास्त्र-संविधान के नियामकों ने
साँचा ही कुछ ऐसा बनाया है इसका
कि मुझे ही काटता है मेरा जूता ।
लगातार—
चुभन का अनुभव करते रहे हैं मेरे पैर
यानी कि वे अभी तक सुन्न नहीं हो पाए हैं ।
बहुत बार—
चलते वक्त मैं नहीं पहनता हूँ जूता,
लेकिन, जब कभी पहनता हूँ
(और बिना पहिने भी)
मुझे काटता है मेरा जूता ।
सच तो है कि—
पैरों का धर्म और जूते का कर्म
अभी तक एक नहीं हो पाए हैं ।
हाँ, रखा हुआ तो—
अच्छा लगता है मेरा जूता ।

[बत्तीस]

मरजीवा

और मैं—

जोकि चलने से जुड़ गया हूँ
रखे हुए जूते को बेकार समझता हूँ,
इसलिए नंगे पैर चलता हूँ ।

पर,

कँकरीला-पथरीला खेड़ा
और कँटीला रेगिस्तान पड़ता है
मेरे गाँव के रास्ते में ।

लेकिन, मेरा जूता—

मेरे पैर के आकार का नहीं है,
इसलिए हाथ में लेकर

और कभी-कभी—

पोटली में बाँध, सिर पर रखकर
चलता हूँ मैं ।

इस यात्रामग्न्यस में

न जाने कितने कांटे चुभे हैं मेरे पैरों में
कितनी ठोकरें खाई हैं मैंने ।

पत्थरों पर पड़ते-पड़ते—

कितनी रक्तहीन हो गई हैं मेरी एड़ियां

देखो न, इन फटी विवाइयों को

पीड़ा ही कसक बन गई हैं मेरे पेरों में,

और घाव पक-पक कर फूटते रहे हैं जो

खुरंट के निशान बन गए हैं अब,

कहीं-कहीं तो ये खुरंट बहुत चिकने हो गए हैं,

जूता पहनता हूँ तो—

वे सूखे घाव रगड़-रगड़ कर फिर नए हो जाते हैं

लेकिन मुझे—

अपने गाँव तो पहुँचना ही है

और फिर से—

गाँव तक पहुँचाने वाली सड़क को देखना है ।

पर, मेरे पैरों के तलबों को

खुर कहने लगे हैं लोग,

मेरा जूता

[तेतीस]

किन्तु, चोटें ही चप्पल बन गई हैं मेरे लिए ।

मेरा अनुभव है कि
जिस मार्ग पर चलता हूँ मैं
वह जय-जयकार के जूतों से
पार नहीं हो सकता
क्योंकि,
न जाने कब से,
मैं अपनी समता के गज को लेकर,
इस विषमता के मार्ग को नापता आ रहा हूँ
पर अब मैं करूँ क्या इस विवशता में ?

पहले—

शास्त्र के तीर से मेरे पैर अवरुद्ध थे कुछ

और अब—

दल की दलदल और 'जाति' की बन्दूक

मुझे चलने नहीं देती ।

किधर जाऊँ मैं—

विश्वास और संकल्प को लेकर ?

देखते नहीं—

मेरे चारों ओर के 'हम' का 'मैं'

कितना सीमित हो गया है ।

पर, मेरे 'मैं' का 'हम'

मुझे चैन से बैठने नहीं देता ।

बार बार—

होता रहा है साक्षात्कार मुझे

कि आँधी आएगी अवश्य

घन-गर्जन-वज्रपात होगा

और फिर मूसलाघार वर्षा भी,

तभी, धूल का अम्बार शान्त होगा ।

सम होगी मिट्टी यह,

और इस परिवर्तन-चक्र में—

मेरा जूता ही नहीं
कंकर-पत्थर और कांटे भी,
काल-गह्वर में समा जाएँगे ।

तब—

मैं उस सहज मिट्टी पर
निर्द्वन्द्व चलकर, अपने गाँव पहुँचूँगा ।
अब, मुझे जल्दी ही पहुँचना है
अपने गाँव ।

मैं निर्द्वन्द्व : सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

मैं निर्द्वन्द्व, सहज-सहज

आप-सब : अकेले हम

बोलते तो कम, विचारते हैं

आप—

बोले हुए को ही बोलते हैं ।

मौन हुए 'स्व' पर

कुत्ते रोते हैं रात में ।

चलने पर—

युग सब चल पड़ता

और रुकने पर—

आप सब रुक जाते ।

फिर—

हम में और आप में

भेड़ों के झुण्ड में,

बगुलों की भीड़ में,

आगे और पीछे, दाएँ और बाएँ

अन्तर क्या ?

शासित और शासक,

पशु और मानव क्या ?

जन ही जन का

भोजन क्या ?

शब्द-शोर लेकर सब

जी रहे संख्या की राजनीति

मौन-शोर लेकर हम—

लड़ रहे इतिहास में ।

बैठकर भी मंच पर—

[छत्तीस]

मरजीबा

गिर रहे हैं आप-सब,
 दबे होकर भी हम
 खड़े होने का प्रयत्न हैं ।
 हावी है आप पर—
 काई की गुलाम-लोच
 किन्तु, विकास की तह में
 हम गतिशील हैं ।
 'आपके व्यवहार में'
 'आप' सब जीवित हैं,
 काल-व्याप्ति में हम—
 क्षण-से समाए ।
 संख्या के सहारे आप—
 भेड़ों को हाँक रहे,
 किन्तु, चल रहे अकेले हम
 प्राणांश से पुष्ट हो ।
 आप मेला के झमेला के समर्थक
 और हम जन-जन-अस्मिता से पुष्ट हैं ।

तो, कभी—
 भासित हो आपको,
 स्वयं के खोने का भय हो,
 खोज लेना तभी, जन की स्फुट श्वासों में हमें
 वहीं मिलेगा 'वह' आकुल
 जिसकी खोज का बहाना है आपको ।
 तू-तुम-आपका वृत्त तोड़कर, मित्रवर !
 अकेला वह हम सब में प्रतिष्ठित है ।
 पर 'हम सब की नियति एक नहीं'
 प्रतीति यह प्रमुख है आप में,
 हालाँकि—
 विवशता की, व्यवस्था की बागडोर
 आप के हाथ है ।

कुंवारी कामना

‘तुलसा महारानी नमो ! नमो !
हरि की पटरानी नमो ! नमो !
पाऊँ वर, दे दो ‘दल’
हे जगरानी नमो ! नमो !
और इस तरह गाती रही गीत
पढ़ी-लिखी कुंवारी कामना ।

आस्था अन्धी वह
युग के बन्धन से
भाग्य लिखे क्रन्दन से
माँगती रही वरदान—
यौवन के द्वार पर,
और उमड़ती रही थी संस्कारी भावना ।

मिलता प्रियतम मन
संयम से—
सर्वगुण सम्पन्न,
इसलिए कसती रही तन, साधना ।
कैशोरी उमंगों से
युवा मन के भावों का
बह करती रही सामना ।
तारों की छाया में
माघ के महीने में,
मुखारत हुई थी छाया उसके मन की
गाते हुए गीत तुलसा महारानी के

ठिठरते शरीर से
 मनसा जगाकर
 कार्तिक की पूर्णिमा को
 लगाई थी परिक्रमा
 तुलसी के थाले की ।
 प्रज्ज्वलित मन से तब—
 जल-धारा चढ़ाकर,
 औंधी होकर, शीश झुकाकर
 माँगे थे तुलसी के दो दल पावना ।
 अस्तोषी स्वर में, मनौती माँगी थी उसने
 संतोषी माता से,
 सुख दायक भाग्य विधाता से,
 और तब वरदान मिला उसको
 हुई वह सफला
 पाया प्रसाद महारानी-कृपा से उसने,
 सिद्ध हुई अन्त में साधना ।

विश्वास उसका
 यौवन प्रकाश बन गया
 खुल गए द्वार सब, बोध-वृत्ति आराधना ।
 मिल गया वर,
 कुलीन घर
 सभ्य युग में अग्रसर ।
 हृदय-क्यारी फूल उठी कुँवारी की
 मिला जीवन-धन, खिल गई भावना ।

कुछ समय तक उमड़ा प्रेम
 फूला फला भाव-नेम,
 तुलसी के प्रसाद का
 विवाहित आल्लाद का ।
 और कुछ वर्षों बाद
 पा लिए बच्चे-फल
 भाग्यानुसार उसने ।

साथ ही खुल गए वैज्ञानिक विचार
समयानुसार ।

अफसर थे 'साहब' उसके
इसलिए कटवा दिए लम्बे केश पति ने ।
बन गई पत्नी मैडम,
शहर का जीवन,
क्लब घर या घर क्लब
बन गया उनका ।

तर्क बढ़ने लगे आपस में—
एक आदमी केलिए एक औरत
यह रूढ़िवादी विचार है ।
नारी कहलाती 'सती' ?
पोंगापन्थी पिछड़ी,
यौन-संबन्ध एकाकी
विचार यह भी पुराना है ।
परिवार हमारा आधुनिक
अंग्रेजी पढ़ा लिखा है ।
इसलिए हर तर्क को देखा उन्होंने
परखकर व्यवहार में ।

नारी के विचार तब और खुल गए
जब पढ़ा उसने—
मिसेज़ कैंनेडी की कहानी को ।
पर लेना तलाक़ आसान नहीं
हिन्दुस्तान में ।
जहाँ कानून रखने नहीं देता
कई स्त्री, कई पति ?
दल-दल हुआ था दिल उनका,
खिल नहीं पा रहे थे कमल जिसमें, हर सरोवर के,
उड़ नहीं पा रहे थे भौरे तरह-तरह के बगिया में ।
कहते हैं सभ्य लोग
पानी जब रुके तो—

रहे कैसे ताज़ी जिन्दगी ?

काई-कीचड़-सड़ांध-घुटन भरी रहती उसमें ।

चाहिए स्वच्छन्दता नारी को

क्लव-मनोरंजन-घूमना,

और फर्क क्या पड़ता, हों चेहरे यदि बहुते से,

पर, मन सदा रहे दर्पण-सा ।

कि तभी देखा एक दिन

अचानक प्रियतम को डिस्को में,

भुजाएँ उनकी झूल रहीं

कमर में अन्य रमणी के,

और स्वयं वह भी

संलग्ना थी अन्या-सी

तर्क सिद्धा वह, निश्चित मन से

देख रही थी समय के प्रवाह को

आँख बन्द करके ।

देखा उसने सतफेरी वर को

तुलसी से पाए वरदानी 'दल' को ।

तब अधरों पर छिटक रही मुस्कान उसके,

क्लव का आँगन था

मौसम खुला हुआ ।

संयोग खूब बना था—

उधर प्रियतम, प्रिया इधर,

देख रहे जो फिर-फिर मुख को,

परिभाषा परकीया

स्वभाषा स्वकीया की ।

डूब कर पाते रहे सुख वे, मद भरे नद में ।

कुँवारी की पूजा वह

पाया वर दूजा यह,

फलित हुआ वरदान तुलसी का,

साधना यह जीवन की

सिद्धि मिली जीवन में

'दल' दो हो गए

कामना में कुँवारी की ।

कुँवारी कामना

[इकतालिस]

घाटो में जीवन

पर्वत की चक्करदार ऊँची चोटियाँ
व्यवस्था ।

दूर-दूर तक फैली घाटियाँ
अनास्था ।

पर्वत

निरन्तर आकाश की ओर बढ़ता हुआ ।

घाटी

नीचे और नीचे फैलती हुई ।

चाँदी से मढ़ी चोटियाँ

पर्वत की ।

घास-फूस से घिरी घाटियाँ

धरती की ।

भाग्य दोनों का

ऊँचाई का अभिमान,

नम्रता में आस्था ।

शैल-शिवरोँ पर चकाचौंध है,

जबकि—

घाटी में जीवन ।

परिवेश

जड़ता,
रेतीला डूह, पथरीला पहाड़
रुकी जिसमें जीवन-सरिता ।
स्पन्दन का कुदाल—
दिखा रहे हैं नेता ।
चारों ओर
लक्ष्य सबका समता ।

पर,
कितना कठिन है सन्दर्भ
जीवन-समता की धारणा ।
फावड़ा
दिखता जिन हाथों में बाहर
अथवा
दिखाकर उसे,
विकास-समता की बात करते जो
दिल-दिमाग शिथिल उनके ।

क्रान्तिकारी बातों के पीछे
हो यदि क्रान्तिकारी कर्म चेतना,
तो, बने जीने योग्य जीवन फिर ।
पहूँचने को उत्सुक आज
जन-जन तक
प्रवाहित जलधारा,

परिवेश

[तितालिस]

घाटी में जीवन

पर्वत की चक्करदार ऊँची चोटियाँ
व्यवस्था ।

दूर-दूर तक फैली घाटियाँ
अनास्था ।

पर्वत

निरन्तर आकाश की ओर बढ़ता हुआ ।

घाटी

नीचे और नीचे फैलती हुई ।

चाँदी से मढ़ी चोटियाँ

पर्वत की ।

घास-फूस से घिरी घाटियाँ

धरती की ।

भाग्य दोनों का

ऊँचाई का अभिमान,

नम्रता में आस्था ।

शैल-शिवरों पर चकाचौंध है,

जबकि—

घाटी में जीवन ।

परिवेश

जड़ता,
रेतीला डूह, पथरीला पहाड़
रुकी जिसमें जीवन-सरिता ।
स्पन्दन का कुदाल—
दिखा रहे हैं नेता ।
चारों ओर
लक्ष्य सबका समता ।

पर,
कितना कठिन है सन्दर्भ
जीवन-समता की धारणा ।
फावड़ा
दिखता जिन हाथों में बाहर
अथवा
दिखाकर उसे,
विकास-समता की बात करते जो
दिल-दिमाग शिथिल उनके ।

क्रान्तिकारी बातों के पीछे
हो यदि क्रान्तिकारी कर्म चेतना,
तो, बने जीने योग्य जीवन फिर ।
पहूँचने को उत्सुक आज
जन-जन तक
प्रवाहित जलधारा,

परिवेश

[तितालिस]

पर,
पहुँच जाते स्रोत पर,
स्वार्थी चन्द लोग,
और ले जाते धारा को—
चोरी से चुल्लू में,
प्यास निज की बुझाते वे
और साख सत्ता की जमाते ।

किन्तु,
खुली धारा का अधिकारी—
परिवेश !
प्यास से बेचैन आज
और विकास !
हो रहा चारों ओर, खुला हुआ ।

नारी : दर्जी की कला

नारी...नागरिका नारी
बहिन-माँसी-स्त्री भी,
अब शायद
रह गई डिजाइन मात्र विज्ञापन का
जड़-वेजान विज्ञापन नहीं,
चित्रित, लिपा-पुता विज्ञापन ।
उसके अंगों-सुअंगों पर,
अथवा वेडौल अंगों पर—
कलात्मक ढँग से ठीक-ठीक मापन ।
लगता मुझ को तो
ओढ़े फिरती अब नारी
दर्जी की कला ।

आज कुछ नागरिकाएँ
अपनी सन्तुलित बुद्धि को,
अर्जित ज्ञान को
मस्तक से ऊपर उठाकर,
हाथ में पकड़कर,
अथवा पैरों के नोचे दबाकर
प्रगति पूर्वक चली जा रही हैं
जाने कहाँ ?
बुद्धि-युग में शरीर से,
आचरण में मन से ।

नारी : दर्जी की कला

[पैतालिस]

उन्हें देख मुझको
यानी ग्राम-तरुण को,
लगता है कि
दौड़ते हुए,
देख रहीं वे आगे की चमक को
और छोड़ रही हैं
दाएँ-बाएँ-पीछे कुछ—
शायद नारीत्व को,
ममता को, अपने को,
जीवन सरिता को,
और
देख रहीं हैं सामने मृगतूष्णा को ।

आवाज का आदमी

दम लगा के-हईसा,
खैच रस्सा-हईसा,
ठेल ठेला-हईसा,
पेट बड़ा-हईसा,
आदमी छोटा-हईसा,
और भूखी आवाज में खो गया आदमी ।

व्यापारिक लाभ,
नीयत में पासंग,
भेड़ियों का झुण्ड,
भेड़ों की आवाज में स्वर का अभाव,
कथनी की दीक्षा,
करनी में ईर्ष्या,
समय की पुकार,
हृदय की आवाज,
राजनैतिक दल-दल,
पार्टी-प्रभाव
और पार्टी की आवाज में खो गया आदमी ।

नेता की आवाज प्रेस-रिपोर्टर
युग का विकास कंप्यूटर
और अखबारों की नपुसंक आवाज
शिकायतों का पुलन्दा ।

आवाज का आदमी

[सैंतालिस]

रहते हैं सम्य नागरिक
 फिरभी मुहुल्ला गन्दा ।
 अधिकारों की माँग
 संस्था को चन्दा ।
 शास्त्रों से पीड़ित नारी
 और नारी से भोगा हुआ आदमी,
 अरे, नर-नारी सब नागरिक
 चाहिए स्वच्छन्दता
 कहते थे गुलशन नन्दा ।
 आदर्शों में जीवित हैं ऊँचे लोग
 और यथार्थ में खो गया आदमी ।

आवाज़—

सीमित नहीं रहती कान तक
 और कान बन्द शासन-फाइलों में,
 जो अटकी हैं आसमान में ।
 लेकिन, आदमी आवाज़ों को पकड़ कर
 चढ़ रहा निरन्तर, उन्नति का शिखर
 ऊपर चढ़कर जब खोजा तो—
 पाया, खोया हुआ आदमी ।

आवाज़—हा हा-ही ही की ऊँची आवाज़—

दोस्त-दोस्ती की
 शिक्षा-शिक्षकों की
 शासकों-शासितों की, जनता के सेवकों की,
 आवाज़ में अपने हैं सब
 और अपनों में अपना खो गया आदमी ।
 नीचे हैं हम
 नीचे हैं नीच आदमी ।
 'ऊँच-नीच मिटा देंगे'
 ऐसी आवाज़ों की नहीं है कमी ।
 प्यार-मुहब्बत ?
 मुहब्बत की कीमत ?

सैवस से गुज़र कर,
लेकिन प्यार, अरे यार !
कर लेंगे मरने के बाद ।
ऐसी आवाज़ बोलते हुए सियार, खो गया आदमी ।

आदमी !

आदमी 'करेंसी' नहीं रहा
जो कहीं भुनाया जा सके ।
वह तो मूल्य हीन धातु का सिक्का है,
जो पुराने राज्य में चलता था ।
भाषा सपाट हो गई आदमी की ।

अब तो चलते हैं केवल
कुर्सी-आदमी के हस्ताक्षर,
शेष सब भेड़ें हैं
जो गुज़र रहीं रास्ते से,
एक-दूसरे के पीछे ।

शिक्षा के प्रमाण पत्र
धन-दौलत-विकास, अग्रसर,
और वह आदमी—

'भारत माता की जय' का विकल्प है
और इतिहास !

शीत में ठिठरा
गुदड़ी में लिपटा
पटरी पर सोया है ।

विकास के इस अम्बार में खो गया आदमी ।

आवाज़ पीले पत्तों की,
झड़ते पत्तों की आवाज़ ।
आदमी मर न सका मौत से
अब ज़िन्दगी से मर रहा आदमी ।

आदमी को खाएगी
अपनी ही आवाज़ ।

आवाज़ का आदमी

[उर्नचास]

इस भय से
रोज़ ही लिखता वह
बेमानी पोस्टर, कविता,
और स्वयं ही छपाकर पढ़ता वह ।
पिट रहा ढिंढोरा है
धर्म-ईमान की गूँगी आवाज़ का
और आवाज़ के इस बगूले में खो गया आदमी ।

भीड़ में खड़े
आवाज़ों से घिरे
अपने ही शोर में बहरा—
यह भूत है खोए आदमी का
जो उठाकर शोर-गुल का ढेर
अपने कन्धों पर बढ़ रहा ।
मस्तिष्क में आँकड़े
वैज्ञानिक उन्नति
चाँद पर जा चढ़े,
और चढ़कर जब लौटा तो—
था वह चन्द्र-विजयी वैज्ञानिक,
पर, नहीं रहा आदमी ?

आवाज़ !
आऽऽ वा ऽऽ जऽऽऽ
और आवाज़ों के इस घटाटोप में
गुज़र रहा खोया हुआ आदमी ।
मौत उसकी, एक घटना है,
और जीवन दुर्घटना ।
आज आवाज़ों के इस मंच पर
संगत है एक स्वर—
खो गया आदमी ।

जमाखोर

डिड्या के मारे
जमाखोर-चोर ।
दौलत के नाग कुण्डली मारे
आर्थिक-विकास में
गरीबों के भाग ।
मधुरी बानी बोलते हैं भयंकर सियार,
मुनाफाखोर गद्दार,
अफसर के सामने, घाघ ।
या फिर—
वे भी होते चोर रिश्वतखोर
लक्ष्मी के वाहन,
हाथ में रिश्वत-हथियार ।

‘रघुकुल-रीति सदा चली आई,
प्राण जा-जा-जा.....,
ब्लैक आउट—
पर, घर में उजाला ।
सेठजी ने खोला तिजोरी का ताला ।
गिनते हुए नोट—
नितम्ब का निचला हिस्सा उठाकर ऊपर
निकालते हुए जोर की हवा,
चश्मे की ओट
मुनीम से बोला—
‘कितनी बिकी है आज चीनी,
और कितना तेल मिट्टी का ?

जमाखोर

[इक्यावन]

चिन्ता न करो
 हमारे साथ हैं नेता ।
 मुनीम बोला—
 राम की कृपा है सेठ जी !
 बिकी चीनी का वजन तो कम है
 फिर भी ज्यादा इनकम है ।
 'ब्लैक' है अन्दर कीमती
 और बाहर भगवान-चाहा
 यह 'ब्लैक' आउट हो जाएगा
 और हमें मोटा मुनाफा दे जाएगा ।
 चिपका कर हँसी—
 पैबन्द-सी ।
 किया प्रश्न सेठ ने—
 आज राहत-कोश में दिया दान तुमने ?
 तब मुनीम का दायित्व—
 जागृत देश की समस्या,
 समाज कल्याण, बोला—
 'पूरे पाँच सौ ले गए वे
 और एक सप्ताह की छुट दे गए वे ।'

खट-खट दरवाजा 'खटका'
 भय मन का,
 तिजोरी बन्द कर के ।
 कहा सेठ ने कौन है, काम क्या है ?
 रात में भी नहीं आराम से जीने देते तुम ?
 'कोई नहीं जी, मैं हूँ',
 भिँची आवाज आई बाहर से—
 'एक बोतल तेल और चीनी चाहिए,
 उसी भाव में, ज़रूरत ज्यादा—
 रात का पहरा
 स्वयं सेवक पिऐँगे चाय
 भयंकर शीत छाया,

सेवा देश की, कृपा आपकी

रखनी मुहल्ले की चौकसी.....।

अरे, तुम ! तेल नहीं है ।

पर, मेरा लड़का—

शीत से जकड़ा पड़ा है, सेठजी !

और पहरा देने पर अड़ा है,

उत्साह उसका पक्का है, सेठजी !

इकलौता बेटा है.....?

‘सुनते नहीं, तेल नहीं है’

कहते हुए, धड़ाम से हो गया बन्द दरवाजा ।

और अन्दर—

मुनीम से बोला लाला

‘कल से एक बोतल तेल या

आधा किलो चीनी कर दो बन्द बेचना

देना हो तो एक पीपा तेल देना,

और पूरे सौ रुपए लेना ।

समझे, इससे कम नहीं,

नहीं तो इनकम नहीं ।

देखना, देना है दान भी

सात दिन बाद ही ।

देश-कल्याण करना है,

नाम अखबारों में छपेगा मेरा,

और लाइसेंस सीमेण्ट का बनेगा ।’

भौचक्के खड़े बाहर सुनी बात चौकीराम ने

एक आवाज और—

वायु खारिज करने की जोर से,

जो नोट गिनने की खरखराहट में

धीरे-धीरे विलीन होती रही

और फिर थोड़ी देर बाद

मानस की चौपाई—

‘प्रेम से प्रगट होहि—

भगवाना भगवाना...भगवा...ना...।

प्राण जा...जा...जा ।’

जमाखोर

[त्रेपन]

युद्ध विधवा

आजादी-मन्दिर की प्रतिमा वह
प्रस्तुत भारत के सम्मुख आज
प्रश्न चिह्निका ?
हृत्चेता नहीं वह शास्त्र के प्रहार से
और नहीं पराश्रिता धन के अभाव में ।
वीरगति पाए पति जिसका
फिर कैसे कर्महीना हो ऊर्जस्विता ।

अभी-अभी रखे थे चरण
उस नवनवोन्मेषशालिनी नवला ने
खोले ही थे झरोखे मन के
षोडशी वर्षों में ।
हुआ था अभी-अभी सौभाग्यशाली मस्तक
सुहाग के सिन्दूर से ।
मिट न पाई थी छाप,
जावक के स्वास्तिक की
नूपुरित चरणों से ।
हो न पाई जो उर्वरा
थी बस वसुन्धरा
प्रिय-आषाढी स्पर्श पाकर ।

देखो ! देदिया शीश-दान उसके संसार ने
युद्ध की चुनौती मिलते ही ।
कृषक वह सैनिक था

उर्वरा-राष्ट्र-भूमि का
निभानी थी परम्परा ।

उद्भिन्न हुआ था अभी-अभी मनसिज
उस पतिप्राणा का ।

प्रणयी-स्मृति

प्रिय लिखति पाती को

वह लगाए रहती छाती से ।

उड़ने को उत्सुक थी जीवन-आकाश में,
कि कतर दिया एक पंख—

विमानी विधाता ने ।

अब उड़े कैसे पक्षिणी,

शिलाखण्ड बाँध कर पंख पर ?

मनोज उसका—

कुछ-कुछ सहमा-सा,

तरुणाई उसकी उत्सुक थी

विफरने को पति से ।

किन्तु,

देदिया दान उस वीरांगना ने—

अपने प्राणधन का ।

सच—

शस्त्र ने कुचल दिया

वत्सल जीवन उसका ।

और तब मिले उसे भेंट में

ढेरों प्रमाण-पत्र, मुद्रा-पत्र सरकार से,

घनी संवेदनाएँ, स्वराज्य के समाज से ।

और शास्त्र !

जो देरहा अबभी,

मर्यादा विधवा की ।

देखो,

यह युद्ध विधवा है ?

बुद्धि युग की सधवा है,

युद्ध विधवा

[पंचपन]

पाए बीरगति
जिसका पति ।

प्रश्न यह युग के यथार्थ का है ।

बोलें -

आपस्तम्ब-याज्ञवल्क्य-मनु
करके फिर मूल्यांकन शास्त्र का,
नवजीवन आज के समाज का,
लक्षित आज फिर यथार्थ की मर्यादा ।

मर्यादा ?

मर्यादा होती सदा—

देश-काल रक्षित ।

कहें फिर से—

नए भारत के वाल्मीकि-तुलसी

धर्म-नीति अबतक—

युद्ध-नीति में कव झुलसी ?

नहीं यह समय

अलाउद्दीन खिलजी का,

होजाएँ अग्नि में अपित जो,

जीवन-पद्मिका ।

समय जौहर का बदला,

देखो न—

असिधर्म पर कब तक चल सकती,

एक नहीं है,

असंख्य युवती-रमणी,

रहे कैसे स्वस्थ

नए भारत की धमनी ?

कंचन हो जिस पर

वह कामिनी क्या करे ?

क्षात्र-धर्म की मर्यादा,

अन्यथा,

व्यथा भरा जीवन वृथा मरे ?

[छप्पन]

मरजीवा

नित नवीन मेरा स्वर

मैं नित नवीन हूँ, नित नवीन मेरा स्वर ।
मैं धरती का मूलमंत्र हूँ, नव विकास शाश्वत वर ॥
मैं सोता रहता अधिक देर तक, जागृत रहता पुरा भोर तक ।
मैं द्रष्टा कवि हूँ वैदिक स्वर में, आदि कवि करुणा मर्मन्तिक ॥
रामायण का राम मैं ही हूँ, हनुमान का वक्ष तना ।
व्यासदेव का भारत हूँ मैं, गीता में थिति प्रज्ञ बना ॥
कालिदास का सौष्ठव हूँ मैं, भाव-भूति की सीता नारी ।
विद्यापति की देसिल बानी, सब जन मीठी सब को प्यारी ॥
सुरसरि सम सबकर हित जिस में, तुलसी की वाणी का वर ।
राधा की वन-ठन विरहा मैं, सूरदास स्वामी-वंशी स्वर ॥
ज्ञान-विरह में अनहद स्वर हूँ, प्रेम-विरह में पद्मिनी रानी ।
नागमती यह दुनिया धन्धा, ऊपर कुआटा नीचे पानी ॥
भूषण का मैं भीषण स्वर हूँ, घनानन्द की प्रेरक जान ।
केशव की चन्द्रिका अलंकृति, गागर से सागर का मान ॥
भारतेन्दु भारत-दुर्दशा मैं, महावीर का वाक्य विचार ।
मनुकी चिन्ता, मानव श्रदा का प्रसाद मैं, परिवर्तन नौका विहार ॥
दो टूक कलेजे से करता प्रयाग, मैं भिक्षु-बन्धु हूँ उच्चघोष ।
जूही की कलिका परिणय, मैं सूर्यकान्त हूँ आत्मतोष ॥
भारती की गूँज हूँ मैं उर्मिला-साकेत गोपा सम्मानी ।
देवी महा महिमा विगलिता, करुणाद्रि बदली का पानी ॥

कुक्षेत्र द्विष करता निष्प्रभ, दिनकर का मैं उच्चशृंग ।
 शेखर हूँ अज्ञेय कृती का, सुरमय कविता का मानभंग ॥
 बन्धन में नित मुक्तिबोध हूँ, द्वन्द्वों की शृंखला अनन्त ।
 अन्धेरे में संघर्षरत हूँ, वर्गों की कड़ियाँ दिगन्त ॥
 मैं नित उदार हूँ रे, नित उदार मेरा वक्षस्थल ।
 जीवन-क्रम में बहता रहता, मुक्तिभाव मैं जगती का थल ॥

किसान-कवि

किसान ! तुम रचना तो करते हो
रेतीले कछारों को,
बंजर उजाड़ों को,
फसलों की जड़ों में थमाकर
ढहने से, उखड़ने से रोकते हो ।
मूल्यहीनता की बाढ़-सूखा से—
तुम निरन्तर लड़ते हो ।

तुम कर्मठ हो,
इसलिए सीख नहीं पाए मुहावरा
आज की कविता का,
अर्थात् जो तुम हो
वही क्यों दिखते हो कृषि-कविता में ?
तुम्हारा रचना-संसार
क्यों देता है अर्थ इकहरा ?
लक्षणा-व्यंजना, दुहरे-अर्थ-तिहरे की कला
क्यों नहीं उभर पाती तुम्हारी रचना में ?
तुम सदा जमीन-परिवेश को
जोतते-बोते क्यों रहते हो ?
मुझे तो हँसी आती तुम्हें देखकर भाई !
कि आज के लाटरी-युग में भी,
तुम यह क्या करते हो ?
करवा दो न हस्ताक्षर दस-बीस लोगों के

किसान-कवि

[उनसठ]

कि फिर बिन जोते ही
बन बैठोगे 'जोता' ज़मीन के ।

यह तो सच है कि तुम
जो भी शब्द-शब्द बोते हो,
उससे सदा निकलता अंकुर-अर्थ इकहरा
फल जिसका सदा अशिव शमन होता है ।
फिर क्यों नहीं कही गई
रचना तुम्हारी आज तक कलात्मक ?
'कला'-मूल्य तो मूर्धन्यों पर निर्भर रहते हैं भाई !
सुनो, ओढ़ क्यों नहीं लेते तुम भी
जिन्दगी ओरों की,
अपने व्यक्तित्व से भिन्न जो अस्मिता,
पहना करो तुम भी
अवसरानुकूल मुखौटा,
जिससे, बिना हल जोते ही
भासित हो हल-जोतना,
बिना बीज बोए ही,
उग आएँ फसलें भ्रान्ति की ।
चौपालों पर
लगे लैलहाने खेती, तुम्हारी बातों में,
और जब खरीद हो अनाज की
तब तुम दे दो टनों आश्वासन उन्हें
भर-भर कर वोरों में,
जैसे देते आ रहे हैं
आचरण से कटे हुए नेता-कविगण,
जो भर-भर कर संग्रह अपने
खाली कविताओं के,
धुआँधार अम्बार बाँट रहे अपनों को ।
उन शिक्षकों की भ्रांति
जो मँहगाई के बोझ से दबकर,
अनकहा-अनपढ़ा ज्ञान दे रहे भावी नागरिकों को,

[साठ]

मरजीवा

तैयार हो रहा जिससे संदर्भहीन
भीड़-कवच चारों ओर ।
उन व्यापारियों की भाँति
जो बिना आधार के,
लगा देते हैं चिप्पी ऊँचे मूल्यों की ।

मित्रवर ! सब चलता है आजकल,
तुम भी क्यों नहीं बन जाते 'चलते' फिर
आचरणहीन आचरण,
अर्थहीन शब्द,
मूल्यहीन मूल्य
प्रस्तुत कर देना रचना में,
कितना आसान है आज ।
फिर, तुम ही क्यों अपने कन्धों पर
ढोते हो हल, चलाते हो हल ।
ओ धरती के रचनाकार !
जब, सब कहते तुम से कि—
कितना बदल गया संसार,
फिर, तुम भी क्यों बीज बोते हो
अपनी-अपनी भूमि में सभी
बिना बोए ही काट रहे हैं जब ?
देखो न ! मूल्यहीन जीवन की
भयंकर प्यास में,
ओस की वूँदें चाट रहे हैं सब ।
और तुम—
भूखे हो अनाज-भण्डार में,
विचित्र विडम्बना है—
प्यासे हो नाँगल-कृष्ण-सागर तट पर,
नंगे हो विमल-कपड़ा मिलों में ।
बताओ तो—
तुम कौन से विश्वास-बोध को,
ढोते आ रहे हो आज तक ?

तुम क्यों छोड़ नहीं पाते
अपनी सहजता-कर्मठता अब भी ?

देखो ! कितना सरल है आज
नेता-कवि-दलाल बनना,
तुम भी जानते हो वह सब ।
ओ अन्तरंग !

छोड़ सको तो छोड़ दो
अपने इकहरे व्यक्तित्व को ।
बन जाओ तुम भी—
जटिल परिस्थिति में आज की कुटिल,
अपना लो मुँह देखा वाचिक धर्म,
किसान-कवि तां हो ही
पर, दुमुँहें भी बन जाओ,
चाटुकारी बोओ—
आँख मारकर ।

आदर्श लाभ-फसल काटो,
शब्द-हँसिया या बर्फी दिखाकर ।
क्या फर्क पड़ता है—
सभी तो उगा रहे बिना बोए ही
फसलें सुविधा की !
फिर तुम ही क्यों वंचित हो
भर लो न खलिहानों को, बिना श्रम के !

अरे मित्र ! बीडियो-युग यह
पर, तुम गाते गीत नानक-कबीर के
गोविन्द-रैदास-दादू अखा के,
क्यों याद करते हो
तुलसी-सूर-मीरां को,
ये भी सब व्यक्ति-व्यक्ति ही तो थे ?
पर, इन्होंने कभी नहीं बनाई वर्ग-पाटों
चिन्ता जो करे—
मात्र मद्रास-आसाम-पंजाब की,

तुम्हारे समक्ष तो लक्षित हैं अभी तक—
 गान्धी-सुभाष-सुब्रह्मण्यम् भारती ? ,
 भूल जाओ अब तुम भी
 देश को, समाज को,
 केवल शब्दों में करो तुम खेती ।
 बदलोगे नहीं मित्रवर !
 अरे, दुहरे व्यवितत्व की
 बहुत गहरी जड़ें होती हैं ।
 खैर ! छोड़ो
 शायद तुम्हीं ठीक हो,
 शायद तुम्हीं ठीक कहते हो,
 शब्दों के थोथे बीज बोने से
 फल नहीं लगा करते,
 समय बड़ा पारखी होता है, वज्रधर !
 अनुभव तुम्हारा भी हल्का नहीं है,
 जीवन तुमने भी जिया है निरन्तर
 अपने बलवृत्ते पर ।

डायरी के कुछ पृष्ठ

१. गुलाब और गुलमोहर

शिव-स्वातन्त्र्य-वेदी पर बहुजात बनैले पुष्प ही समर्पित होते रहे हैं। मैंने साहस करके, उपवन से एक अधखिला गुलाब-पुष्प तोड़कर 'शिव' पर चढ़ा दिया है। और तोड़कर जब चढ़ा ही दिया है अपने को, तो आगे भी चढ़ाता रहूँगा। टूट-टूट कर, पुष्प-समर्पण-साधना मेरी नियति बन गई है। सभी फूल, समत्व-साधना केलिए, जीवन-वेदी पर, चढ़ते या चढ़ाए जाते रहै हैं। एकमात्र गुलाब अपने सामन्ती रौब में अपने को बचाए रखता है, अभिजात्य बना रहता है। प्रकृति-गोद में जन्मे होने के कारण सभी पृष्ण सुन्दर, जीवन्त और मूल्यवान् होते हैं, सभी 'होने' और 'होते रहने' की प्रक्रिया से गुजरते हैं। फिर, गुलाब और पलाश में अन्तर क्या ? मेरे जीवन में 'होने' की अमरिता ही गुलाब और गुलमोहर में अन्तर स्थापित नहीं करने देती। सामन्ती-व्यवस्था-चक्र में 'होने' के आसपास इतनी सीमाएँ या घेरे बना दिए जाते हैं, कि सहज पुष्प मूल्यहीन हो जाते हैं, सुगन्धि रहित करार कर दिए जाते हैं और वह 'सुगन्धि' भी परिभाषा देने वालों की मात्र मानसिकता का प्रतिफल होती है। 'नकली' असली बन जाते हैं और असली, धरती-जात, विकास के अवसरों से वंचित रह जाते हैं। इसलिए 'गुलाब' तोड़कर 'शिव' पर चढ़ाने की प्रक्रिया मैंने शुरू कर दी है। 'सौन्दर्य' विलास की वस्तु नहीं है, वह तो जीवन का अभिन्न अंग है, समग्रता का अभिभाज्य अंग। धरती पर गुलाब का जितना अधिकार है, घास के फूल का भी उससे कम नहीं। और मैं तो ग्राम-घास का संघर्षजात एक अंकुर हूँ, इकाईमात्र।

२. मोमवत्ती

एक छोटी-सी मोमवत्ती मेरी डायरी के पृष्ठ के एक कोने पर निरन्तर जलती रहती है। कभी तो उसने अपने अन्तस् के स्फुलिंग-पुष्प डायरी के पन्नों पर गिराए हैं और कभी-कभी वह मेरी नीरवता को देखकर भभक भी पड़ी है। कभी वह कहती सुनी गई है कि तुम्हीं नहीं जल रहे हो, मैं भी जल रही हूँ। जलना ही गुजरना है, होना है। कभी वह मुझे मेरे हिमालयी-विराग के विरुद्ध उद्बुद्ध करती है और कभी बिन्दु की लघुता के प्रति सावधान करते हुए 'होते रहने' की प्रेरणा देती है। जब कभी मुझे उसका यह उपदेशी आक्रमण अच्छा नहीं लगता, तो मैं उसे फूँक देता हूँ, अनन्त अन्धकार में लीन हो जाने के लिए। और सोचता हूँ कि ठण्डा अन्धकार ही तो आग का, प्रकाश का, स्वागत करता है। तब मैं अन्धड़ में बुझी मोमवत्ती होकर सूर्य की प्रतीक्षा में चल पड़ता हूँ।

३. जंगल का यथार्थ

अपने थोड़े से बहाव को लेकर, ग्रीष्म ऋतु में, नदी बहती जा रही थी। उसके दोनों किनारों पर, दूर-दूर तक बालू पसरि पड़ी थी। चिलचिलाती सूर्य-किरणें सिर पर सवार थीं। जहाँ मैं सबेरा होने की प्रतीक्षा में खड़ा था, वहाँ टीकाटीक दोपहरी थी। फिर भी नदी की विरल धारा से, जंगल के जन्तु अपने-अपने पेट की पात्रता के अनुसार पानी पी रहे थे। चींटी से लेकर अजगर तक सभी जीवन जी रहे थे। अर्थ उनका अपना-अपना था।

किनारे से थोड़ा हटकर एक बरगद का पेड़ था। उसकी छाया में, शाश्वत भूख का बहाना किए, एक भुक्खड़ शेर बैठा था। मैंने धारा से जल पीकर अपनी तोमड़ी में भी भर लिया था। और छाया की आशा में बरगद की ओर बढ़ चला था। हालाँकि, मेरे पैर झुलस रहे थे, फिर भी तोमड़ी

का जल मुझे सन्तोष दे रहा था। पेड़ के नीचे पहुँचने से पहले ही मुझे शेर दिखाई दे गया था और तब जीवन की समाप्ति समझकर मैं आगे ही बढ़ता गया। और शेर के निकट पहुँचकर मैंने पूछा 'पानी पियोगे?' शेर ने अहम् भरी अयालों वाली अपनी गर्दन को थोड़ा इधर-उधर हिलाया, अपने बालू भरे परिवेश को देखा और बोला—'मैं तो जंगल में ताजा मांस खाकर ही पानी पीता हूँ। ऐसा ही मेरे बाप-दादा करते आए हैं। पर, आज की हवा (लू) को देखकर मैं सोच रहा हूँ कि क्यों न मैं इस तपती बालू में देखूँ कि अन्य प्राणी नदी तक किस प्रकार चलकर पहुँचते हैं।' मैंने कहा—'परिवेश आपके हाथ में है, मुझे खाकर भी पानी पी सकते हैं और मेरे द्वारा लाए गए पानी से भी प्यास बुझा सकते हैं? मैं समझता हूँ कि आप नदी तक जाने की बात शौकिया कर रहे हैं।' शेर कुछ भड़का और गर्जन करते हुए बोला—'मुझे अपने अधीनों का सदा ध्यान रहता है। जंगल वासी हम सब भाई हैं। तुम बातें बनाते हो.....।' कहते-कहते वह नदी की ओर बढ़ गया तब उस बीहड़ में उसकी दहाड़ गूँजती रही।

मैं भागा नहीं, क्योंकि मैं समझता था कि आखिर मैं भागकर जाऊँगा कहाँ? शेर की भूख की पहचान समूचे जंगल में व्याप्त हैं। किन्तु उसके आचरण की वृत्ति.....मात्र कविता के शब्द नहीं हैं।

४. दृष्टि

आह भर कर मैं विश्व की उन समस्त क्रूर अत्याचारी आँखों को, याद करता हूँ, जिन्होंने अपने समय में बहुजन की दृष्टि को पीड़ा पहुँचाई है, उन्हें अन्धा बनाकर बलात्कारी शोषण किया है।

पुराणेतिहास में रावण की कुदृष्टि को देखकर जन-जातियों में जो क्रान्ति मची होगी, शायद उसी का परिणाम था 'राम' का सृजन। फलतः व्यक्ति स्वतन्त्रता को अपहृत करने वाली आँखें बहुत देर तक खुली नहीं रह

सकीं। तब भूमिजा की नेत्रशक्ति ने उसके दृष्टि-दर्प को नष्ट किया था और जन-जनवादी विभीषण की दृष्टि को सँवल दिया था।

इतिहास अभी तक सिकन्दर, चंगेजखाँ, बाबर, हिटलर, डायर आदि की कहर डहाने वाली दृष्टि-गति को भूल नहीं पाया है। सिकन्दर के समय युवक चन्द्रगुप्त ने उसकी दृष्टि गति को अवरुद्ध किया था, गुरु चाणक्य का अनुशासन पाकर। पंजाब का शार्दूल उद्यम सिंह आततायी डायर केलिए काफी निकला।

जन-जन की व्यंग्यभरी दृष्टि जब संचनित होने लगती है तो शोषक पद्धतियाँ परिष्कृत होती हैं, मुड़ती हैं, बदलती हैं और धराशायी भी होजाती हैं। युवक माध्यम बनता जब, तो जन-जन के हितवाली स्वच्छ-विस्तृत राज दृष्टि उभरकर सामने आने लगती है। इसी दृष्टि का परिणाम होता है शोषण-मुक्त समाज। ऐसी ही दृष्टि को लेकर जीने का अभ्यास कर रहा हूँ मैं।

५. श्वासों का ब्यौरा

श्वासों का ब्यौरा देना होगा। जीवन की कितनी श्वासें गफलत और विलास में बीती हैं? कितनी श्वासों ने दूसरों की गरम श्वासों को शीतल स्पर्श प्रदान कराया है और कितनी ने ठण्डी श्वासों को जमने से बचाया है? कितनी श्वासें सघन हो कर, मिलकर बरस पड़ी हैं? कितनी श्वासें दूसरों की आंखों में तीर बनकर चुभी हैं और कितनी ने दूसरों की तरल श्वासों को, इतना अधिक विवश, अभावग्रस्त एवं निष्ठुर बना दिया है कि वे हलाहल परिणामी हो गई हैं? कितनी श्वासें जन-जीवन से मिलकर मेघा-कार हुई हैं और कितनी व्यवस्था की जकड़वन्दी को तोड़ने में जीवन-आहुति देती रही हैं? कौन लेता और देता है श्वासों का हवाला जीवन में? पर, देना चाहिए, देना होगा। मुझे लगता है कि मेरी श्वासें तो अभी तक मुझे ही तरल ओर सहज बनाने में लगी हुई हैं। मुझे कभी-कभी भय-सा लगता है कि मेरी ये श्वासें मुझे शून्य न बना दें? कहीं जीवन की विसंगतियाँ,

विद्रूपताएँ मुझे कबीर, मार्क्स अथवा शंकराचार्य से दीक्षा न दिला दें ? कहीं ये मिलकर अपनी धरती से काट न दें ? लेकिन, यह भी प्रक्रिया में हैं कि मेरी स्वासों और अधिक दीर्घाकार होती जा रही हैं । मेरी निरन्तर चेष्टा है कि मैं इन स्वासों की दीर्घता से जीवन की ऊष्मा और ऊर्जा लेता रहूँ ।

६. शिशु और कलिका

प्रकृति की सृजनात्मक सत्ता एवं उसकी अनुकूलता के प्रतीक रूप में दो बिम्ब मुझे निरन्तर प्रेरणा देते हैं । वे हैं शिशु और कलिका । ये दोनों ही सहज सृजन के सघनरूप एवं भविष्यत् की सम्भावनाओं से पुष्ट, निश्चल और निर्मल हैं । दोनों के समक्ष विकास, प्रगति का अधिकार विद्यमान है । दोनों को ही अपनी जीवन यात्रा में संघर्ष करना है, परिस्थितियों से लोहा लेते हुए, सिर ऊँचा करके विकसित होना है, कुछ देना है । दोनों ही अपने बीजत्व से लेकर पुनः बीज बनने तक परिस्थिति की पतों से टकराते रहने का भविष्य लेकर आते हैं । ये दोनों यह सिद्ध करते हैं कि विकसित होने के लिए कितना संघर्ष करना पड़ता है । इन संघर्षशीलों को, शक्तिशाली बनाने के लिए प्रकृति कितना सहयोग प्रदान करती है । दीक्षा प्राप्त करने के लिए प्रकृति ही इन्हें जीवन के बीहड़ में भेज देती है । जीर्ण-जर्जर पतों की चादर-दीवार को तोड़कर ये दोनों ही जीवन में आशा-आस्था का संचार और सन्देश देते रहते हैं ।

७. विचार

‘सच पूछा जाए तो आपके विचार कहीं तो बहुत पुराने लगते हैं और कहीं अत्याधुनिक……।’ कहने वाले की बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि व्यंग्य सहन न करने वाला मेरा मन बोल पड़ा—मेरा विचार ‘विचार’ है, विचारा नहीं। उसके साथ ‘पुराना’ या ‘नया’ विशेषण नहीं लगाया जा सकता। विचार, न तो कभी युवारूप में दिखाई देता है न कभी बूढ़ा होता है। विशेषणों से विचार की व्यावहारिकता खण्डित होती है। मेरे ‘विचार’ मेरे आचरण के अनुकूल हैं और मैं ‘वर्तमान’ हूँ। अतः मैं न कभी भूत होता हूँ और न भविष्यत्। ये तो वर्तमान के ही दो छोर हैं। मैं तो जीवन-धारा हूँ, जिसे स्थान और काल के घेरे में घेरा नहीं जा सकता। मुझ में मेरे विचार का वाहक जीवन, युग के संघर्ष के साथ-साथ, आस्था लेकर आगे बढ़ रहा है।

८. सत्य को निकट से देखना

सत्य के जो जितना निकट रहता है, वह उतना ही सत्य को सही आँखों से देख पाने में अपने को असमर्थ पाता है। ज्येष्ठ मास में मध्याह्न के सूर्य को देख पाना आसान नहीं। आर्थिक विषमता की बीभत्सता देखकर भाषण देना, नारेबाजी करना, नाक-मुँह फेर लेना आदि प्रतिक्रिया तो सहज ही प्रदर्शित की जा सकती हैं। वास्तव में गरीब की गली बहुत गन्दी है, जीवन का कोढ़ निर्धनता है। निर्धन-पराश्रित होना और निर्धनता का अनुभव तथा परमात्मा का ‘दास’ कहाना दोनों बहुत भिन्न स्थितियाँ हैं। उस रास्ते से कोई ही रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गान्धी ही गुज़र पाता है और जो सही चेतना लेकर गरीबी-गन्दगी की विद्रूपता का साक्षात्कार कर लेता है, वह जीवन में बहुजन विमुख होकर चैन से नहीं बैठ सकता। हालाँकि ऐसे चरित्र इस समय हिन्दुस्तान में बहुत कम हैं, हाँ ऐसे निरुपाय पात्र असंख्य हैं। समय का अन्तराल, इस गरीबी के, शोषण के सही चित्र विश्लेषित करके हमारे सामने प्रस्तुत करता रहा है। कौन-से हैं वे शोषक अजगर तत्व ? देखो निकट से।

सत्य को निकट से देखना

[उन्हत्तर]

६. जीवन-पोषक धारा

जीवन-गति और पर्वत-प्रवाह दोनों ही आन्तरिक उद्वेलन से अग्रसर होते हैं। दोनों धाराएँ हैं जो कर्म-मैदान में, बहुजन की भूमिका में, परखी जाती हैं। जैसे पर्वत के सभी स्रोत सागर तक पहुँचने में सफल नहीं हो पाते, वैसे ही जीवन की सभी संघर्षशील धाराएँ अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पातीं। कुछ धाराएँ तो संघर्षमयी परिस्थितिरूपा बालू में ही अपनी जीवन्तता को सुखा देती हैं और कुछ चट्टानों से टकरा-टकराकर आवाज करते हुए मर जाती हैं, कुछ झील बनकर अपनी ताज़गी खो देती हैं। हाँ, कुछ भागीरथी ही सागर-लक्ष्य तक पहुँच पाती हैं। इतनी लम्बी यात्रा में संघर्षशील बने रहने के लिए उद्गम पर ही संकल्पशील होना अपेक्षित होता है। हर धारा की, जीवन धारा की नियति है कि उसे अपनी अस्तित्व परीक्षा के लिए जीवन-भूमि पर उतरना पड़ता है। समय की कठोर शिलाओं, बँधे हुए घाटों की सीढ़ियों-ढलानों से, प्रत्येक जीवन्त धारा को टकराना पड़ता है। इस संघर्ष में उसका मनोबल, सामर्थ्य बन कर, परिस्थिति की विषमता का सामना कर सकता है। इस लम्बी कठोर जीवन-यात्रा में लक्ष्य प्राप्ति न भी हो, तो भी जीवन निरर्थक नहीं माना जा सकता। यही तो है आदमी की उद्यम-नदी का इतिहास। वैसे देखने में यही आता है कि कुछ स्वार्थी सुविधा भोगी शोषक राक्षसों ने, अपने सीमित स्वार्थों के लिए, जीवन की सहज धारा को, अधिकारों की आड़ में, घाट-बाँधों में जड़ दिया है। इसीलिए तो जन-जीवन पोषक धारा, जन-समृद्धि रूप सागर तक, सहज ही नहीं पहुँच पा रही है। मुझे अनुभव हो रहा है कि अब फिर से अनेक भागीरथों को प्रयत्नशील होना पड़ेगा।

१०. आदमी का संघर्ष

उन्नति करते-करते हम इतने ऊँचे तो नहीं हो जाएँगे कि भूमि के जीवन से सम्पर्क ही टूट जाए। आकाश में रहते हुए, स्रोत से कट जाने पर जीवन्तता कैसे रह सकती है। जीवन से जुड़े रहने के लिए स्रोत पर संघर्षण होते रहना अनिवार्य है। आदमी के इतिहास में, कुछ संघर्षार्थी जीवन के वक्ष पर कुछ ऐसी लिखावट कर जाते हैं, जो सदा से श्रम-आचरण की गीता मानी जाती रही है।

आदमी का संघर्ष समाज की विषमता को, आर्थिक अव्यवस्था को इतनी आसानी से नहीं मिटा सकता। इसके लिए असंख्य विचारकों-नेताओं को जीवन-संघर्ष में पड़कर, गरीबी को आचरण में जीना होगा, तभी धन की मादकता के प्रमाद के बीच, निर्धनता के डंक का असर समझा जा सकता है। इसके लिए एक कवीर-माक्स-गान्धी से काम चलने वाला नहीं है। इसके लिए अनेक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-लाल बहादुरों की अपेक्षा है इस धरती को।

११. धन का वितरण

समय हृदयहीन निरंकुश द्रष्टा है। वह इतिहास की तरह (और शायद नहीं,) पुनरावर्तित तां होता नहीं। वह तो अपने ढंग से अपना क्रम चलाता रहता है। मैं उससे कभी-कभी निवेदन करता हूँ कि ओ दुर्दमनीय त्रैगुण्य रहित शासक ! तू मुझे भी अपने अधिकार का एक अंश दे दे, जिससे मैं स्वयं उस पूर्णकाल में जी सकूँ। निश्चित ही मैं तेरे जैसा शासन नहीं करूँगा। मैं तो 'आदमी' बना रहना चाहता हूँ और आदमी बने रहकर शोषक रूढ़ियों और व्यवस्थाओं को तोड़ना मेरा धर्म है। विशेष तौर से धन के वितरण के मामले में। मैं चाहता हूँ कि धन, जीवन ढाँचे में ढलकर श्रम के आधार पर विभाजित हो, भाग्य को आधार बनाकर हथिया लेने की दुर्नीति के आधार पर नहीं। हमारा बहुत बड़ा समाज, इस चक्की में पिस रहा है आज।

१२. पसीने का अमृत स्पर्श

आकाश यदि अनन्त और व्यापक है, तो धरती का वक्ष भी कम विस्तृत नहीं। आकाश में यदि चमकीले सितारे हैं, तो पृथ्वी भी रत्न गर्भा एवं रत्नाकर सम्पन्न है। धरती के चन्दा-सूरज आकाश के चन्द्र-सूर्यों के प्रकाश-ताप की समता करते आए हैं। आकाश और आकाश-वृत्ति के सहारे कोई भी जीवन व्यातीत नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा मानकर अपने को सन्तुष्ट कर लेता है, तो करे। पर, धरती का संवेदनशील सुख किसी प्रकार भी, सच्चिदानन्द सुख से कम नहीं। (हाँ, धरती-सरोवर के कुछ मगरमच्छ बगुले अपनी वृत्तियाँ छोड़ दें तो) आकाशाश्रितों का सुख निराकार है; पर धरती की सन्तान दुःख की सघन अनुभूति की प्रक्रिया में मुक्तावस्था प्राप्त करती रही है। निःसर्ग वासी सुख से दुःखी होते हैं, तो मिट्टी से सने हुए आदमी में बाल्मीकि, कालिदास, रैदास, कबीर, सूर, मीरा बनने की क्षमता है, जो दुःख में, विरह में सुख का अनुभव करते रहे हैं। भोग में क्षय है, अवरोध है, संकीर्णता है। विरह में गति है, विकास है, व्यापकता है और प्रभु-विभु बनने की क्षमता है। सुख में पुराण की स्थिरता है, दुःख में वर्तमान की नवीनता-ताजगी। उस ओर भाग्य है, इस ओर परिश्रम। उस ओर ईश्वरीय विधान है तो इधर आदमियत की क्रियाशीलता। सुख में ईर्ष्या है तो विरहाभाव में पसीने का अमृत स्पर्श। सुख में अमरता की जड़ता है तो दुःख में मरण का उत्कर्ष। आदमी निर्माण चाहता और देव निर्मिति का भोग करते हैं। देवता आदमी के संघर्ष को, सृजन को, संकल्प को ईर्ष्या की नज़र से देखता है और कर्मशील के मन में उचाट प्रेरित कर विकल्प भरने का प्रयत्न करता है। देवता सुविधा में अमर है, लेकिन संघर्षशील आदमी नित नए सवेरे की प्रतीक्षा में अपनी यात्रा को अनवरत बनाए रखता है। आकाश का इतिहास नहीं होता लेकिन धरती का, आदमी का इतिहास है।

१३. आँसू का खारापन

आज समझ में आ रहा है कि आँसू और सागर के पानी में खारेपन का गुण समान क्यों है ? सागर अपनी द्रवणशीलता को निर्वाधरूप में, धूप से, ऊर्जा से जोड़कर, वाष्प की व्यपकता रूप मेघ में हृदय-परिवर्तन करता रहता है। और मेघ, अपनी समता की ऊँचाई से, धरती की प्यास बुझाते रहते हैं, जिससे धरती उर्वरा होकर हरी-भरी होती रहती है और तभी जीवन सुखानुभूत करता है।

इधर, आँसू भी, अभावों की लम्बी श्वास-तरंगों के साथ, अपनी आन्तरिक उमस से, लोक में व्याप्त होते रहते हैं। पर, अन्तर यह है कि उधर आकाश, सागर की अकुलाहट को, मेघ रूप में आश्रय देता रहता है। इसीलिए तो मेघ आत्मवान् होकर द्रवणशील बनता है। पर, आँसुओं की भाप संसार के ऊपर छायी रहती है, फिर भी संसार आँसुओं का तिरस्कार करता रहता है, आँसू-सामर्थ्य की उपेक्षा करता रहता है। इसीलिए तो आदमी का प्रयत्न-संवर्ष, ययार्थ होते हुए भी, अनेक बार झूठ से पराजित होता रहता है। आँसू (क्योंकि, अभावों को पहचानने में धोखा नहीं हो सकता) देखकर उन्हें मुस्कराहट में बदलने के लिए पार्टी-जाति-प्रदेश-भाषा-देश की सीमा का अतिक्रमण करना होगा।

सागर का पानी और आँसू दोनों खारी हैं। शायद दोनों की आन्तरिक लवणता ही इसका कारण हो ? मानसवासी होने के कारण ही आँसू की बूँद में निश्छल अभिव्यक्ति होती है। सागर की लहरों की तरह आँसू भी उर्मियाँ उत्पन्न करते हैं, तूफान लाते हैं। आँसू की धार से विसंगत जकड़वन्दी गिथिल होती है, आदमी के वर्चस्व की धार तेज होती है, कुर्सी को डगमगाना पड़ता है। न जाने क्यों, अभी तक शोधक का, आचरणहीन का प्रत्यय-परिवर्तन नहीं कर पाया है आँसू का खारापन ?

१४. आँसू भी सूख गए

संसार की विसंगति भरी बिडम्बना सहते-सहते तन-मन की शक्तियाँ अवरुद्ध होती रही हैं। ओ जीवन ! तू ने मुझ से रुदन का अधिकार भी छीन लिया है। प्रतिविम्बित अतीत को आँचल में बाँधकर जब मैं वर्तमान के साथ गाँठ जोड़ता हूँ तो अपने को गहरे अन्तराल में पाता हूँ। पानी का अवलम्ब भूमि के नीचे कितना गहरा है, पता नहीं लग पाता। क्या कल्पना और भावना के अभाव में विचार का कोई अस्तित्व हो सकता है? वचन का समय था जब उत्साह भरी मुस्कराहट मेरी सहयात्री थी और तब वह मेरा सदा साथ देने का वचन देती थी। जब संघर्ष में आया तो आँसू मेरे अन्तर्गत साथी बने। आज जीवन की विसंगति में मुस्कान नहीं रह पाई है। चोटों की निरन्तरता के कारण आँसू भी सूख गए हैं। मैं तो केवल 'मैं' रह गया हूँ, मैं का बोध — 'हम'।

ओ मेरे 'हम', अब कौन से उपाय का अवलम्ब लूँ, जिससे मेरे चारों ओर की सीमाएँ, विपमनाएँ, विवशताएँ कट-छट जाएँ और मैं सहज ही समाज के आडम्बर से मुक्ति पा सकूँ।

१५. सुविधा-सरोवर के किनारे खिले गुलाब

आज विचार-चिनगारियाँ मेरी खोपड़ी की सीमा को स्वीकारने में असमर्थ हो रही हैं। मेरे चारों ओर रंग-विरंगे भोगवादी गुलाब ही गुलाब खिले हैं। मैं उन के बीच में रहकर 'उलटवाँसी' बना रहता हूँ। गुलाबों में 'कलम-क्रिया' के माध्यम से मृजन-प्रक्रिया तो पूरी दिखाई देती है और उनके रंग भी चमकीले, असली की मात देने वाले लगते हैं। ये गुलाब अपने रंगों को चमकीला बनाने के लिए अपनी मिट्टी का शोषण करते रहते हैं और चमकीला होने का गौरव पा लेते हैं। लेकिन, ये तो परपिण्डोपजीवी हैं। इन्हीं चमकीले

समृद्ध गुलाबों के चारों ओर लोलुप भौंरे चक्कर काटते रहते हैं; क्योंकि गुलाबों की तरह ये भी, बिना श्रम के, संचित-पराजित रस पीने के आदी हैं। सुविधा-सरोवर के किनारे खिले ये गुलाब उस अनुभव से वंचित हैं, जो अभाव-बीहड़, रेगिस्तानी वंजर, गीष्म की तपन में अजित होता है। ये गुलाब समाज के लिए इसलिए अनुपयोगी और कलमी हैं, क्योंकि ये दूसरे के श्रम का भोग करते हैं। इन पर ज़िन्दगी की धूप नहीं पड़ती। एक बार लगा दो न इनको रेगिस्तान के परिवेश में। फिर देखते हैं ?

१६. दुःख : एक विश्वसनीय मित्र

जब से इस धरती पर आदमी 'मनुष्य' बना, तभी से, शायद सुख-दुःख का द्वन्द्व अनुभव में आता रहा होगा। मनुष्येतर प्राणियों में भी ये भाव-गुग्म अनुभव किए जाते रहे होंगे, ऐसा सहज ही अनुमान में आ सकता है। पता नहीं किन परिस्थितियों में, समाज के बहुमत से दुःख के मूल्य को कम समझकर उससे दूर रहने की मानसिकता बना ली और दुःख की उपेक्षा करने की ठान ली। उधर, अल्पमत दुःखाक्रान्त समाज ने भी, शायद पेट-आग के कारण, दुःख के प्रति अपनी आस्था खो दी और भाग्य का पल्ला पकड़ लिया। लेकिन, मेरे अनुभव में निरन्तर आता रहा है कि अभाव जनित बेचैनी, अकुलाहट अथवा दुःख मनुष्य के सह-अस्तित्व को जागृत बनाए रखने के लिए बड़ा उपकारी मित्र है। दुःख का ऐसा अमृतस्पर्शी अनुभव किसी-किसी हितैषी-आत्मवान् को ही होता है। मेरी तो यहाँ तक धारणा बन चुकी है कि दुःख ही तो वह मूल चेतना है जो समाज का, संसार का यहाँ तक कि समूचे जीवन का साक्षात्कार कराने में समर्थ है, क्योंकि यह मेरा चिर सहचर बना रहा है। मेरे लिए तो यह जीवन की विभूति ही बन गया है। इसकी यह धारित्रिक विशेषता रही है कि जिसने इसकी उपेक्षा नहीं, सहज ही इसे ग्रहण किया है, उसे इसने हर गिरावट से रोका ही नहीं, अपितु आत्म-सम्बल भी दिया है। इसी दुःखानुभूति की ओर, व्यापक समग्रता प्राप्त करने के लिए, प्रयत्नशील हूँ।

१७. प्रतीक्षा और उपेक्षा

जब एक क्षण दूसरे क्षण की प्रतीक्षा नहीं करता, तो एक युग बीते युग की अपेक्षा क्यों करे ? ठीक है, पर, एक क्षण दूसरे क्षण की उपेक्षा भी कहाँ करता है ? एक युग दूसरे युग की, एक देश दूसरे देश की, एक वर्ग दूसरे वर्ग की, एक आदमी दूसरे आदमी की, एक विचार दूसरे विचार की उपेक्षा-तिरस्कार क्यों करता है ? हीनता से क्यों देखता है ? धरातल पर सह-अस्तित्व की नीति कब सफल होगी ?

१८. शकुन

वचन के संस्कार हैं कि 'बाईं आँख पड़कती है, तो अमंगल होता है।' ये रूढ़ संस्कार ही अमंगलमय होने की आशंका भरते हैं। किन्तु, विचार-तर्क समृद्ध होकर बोल पड़ते हैं कि जब दाईं आँख लहकती है, तब भी तो कोई खुशहाली नहीं टपक पड़ती। यह मंगल-अमंगल वाली बात, व्यक्ति के लिए केवल मन का भ्रम है। पूरे समाज के लिए भी यह शकुन अनुकूल और प्रतिकूल हो सकता है; क्योंकि उस पूरे परिवेश में हम जीते हैं।

इसलिए अपने मन को समझाता हूँ कि अरे भाई मन ! सोचो तो ये मंगल-अमंगल सभी कुछ जीवन के अंग हैं जो विसंगति जन्य हैं। हमें तो रास्ते पर चलते जाना है। जब जीवन-संघर्ष को जीवन का अनिवार्य अंग मान ही लिया, तो फिर शुभ-अशुभ की चिन्ता कैसी ? मेरे जीवन की आग इतनी प्रबल है कि यह सभी मंगल-अमंगल, यश-अपयश जन्य विरोध को पचा लेती है। इस अग्नि के सहारे ही पीड़क विसंगति को भी पचाना है। इस अग्नि का होना ही मेरे लिए शुभ शकुन है।

१६. माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः

यह पृथ्वी माँ है। यह मिट्टी का आकार, जड़ता की व्याप्ति भर नहीं है। यह चेतन व्याप्ति है। यह भूमि हमारे श्रम-विचार को अंकुर देती है। हमारी क्रियाशीलता को प्रतिबिम्बित करती है। यह वसुधा हमारे संस्कारों को जनहिताय परिष्कृत करती है। इस धरती पर जीवन-सत्य विराट् रूप में अनुभूत होता है। इसके कण-कण में रक्त-बीज विद्यमान हैं। इसके रज-कण की विशेषता है कि जहाँ भी एक श्रम-सीकर गिरता है, वहाँ सहस्रों जीवन-पादप लहलहाने लगते हैं। इसलिए यह धरती माँ है। यह मिट्टी एक शाश्वत् तत्त्व है, जिसका चैतन्य-स्नेह कभी समाप्त नहीं होता। यह उस दीप की ज्योति है, जिसे लाखों वर्षों से मनुष्य ने प्रज्ज्वलित किया है।

इसी धरती का एक स्वतःपूर्ण अंग है भारत। इसके कण-कण में वलिदान मन्त्र आपूरित है। खेद यह है कि इसके वलिदानजनित श्रेय को भोगते आ रहे हैं कुछ आलसी चाटुकार। मुझे विश्वास हो रहा है कि मिट्टी में सनी-धूल धूसरित वलिदानी शक्तियाँ एक दिन, एकजुट होकर, आदमी को ही अपना लक्ष्य मानकर, क्रान्ति के लिए संगठित होंगी। सही आह्वान की देर है। निश्चित ही तूफानी वर्षा होगी, जो बेडौल गहरी दरारों को, जल-जीवन से सराबोर कर, समता प्रदान कर सकेगी।

२०. भूमि-का

पैरों के नीचे की धरती अपनी है। इसको किसी भी परिस्थिति में खिसकने नहीं देना है; क्योंकि, मात्र इसी का आधार तो विश्वसनीय है। जब अभाव, विसंगति, विचार-विरोधी, शोषक-आक्रामक शत्रु, शस्त्र धारण करके, इधर आता है और मेरी भूमिका का अपहरण करना चाहता है तो प्रतिशोध-प्रतिरोध न कर पाने की स्थिति में, यह आक्रामक के पैरों तले कुचली

जाकर गुब्बार के रूप में ऊपर उठती है और उसके चेहरे पर छा जाती है, उसकी आँखों की किरकिरी बन जाती है और तब वह आँखें मलता भाग खड़ा होता है। किन्तु, जो इस में रचने-पचने को ही अपनी नियति समझता है, उसका यह धूल तिलक करती है, उसे जीवन के सत्य से अवगत कराती है। धरती-जातक ही धरती की वृत्तियों का संस्कार करता है, पात्र निर्मित करता है आवश्यकतानुसार। ऐसे पृथ्वी-पुत्रों का माँ पृथ्वी आदर करती है, पर सिंहासन देकर नहीं। हम सब भूमि-का हैं। अतः हम सब एक ही नाव में सहअस्तित्व वाले हैं। यदि हमारे समक्ष ही, हममें से किसी भूमिक को जीवन की आवश्यकताओं से वंचित रखा जाएगा, तो यह हम सब की चेतना पर गहरा दाग होगा। तब हम चैन से जी-भी नहीं सकेंगे और मर भी नहीं सकेंगे। यही सब तो हो रहा है हमारे परिवेश में और हम जी भी रहे हैं। कितना जहालत भरा जीना है हमारा।

२१. कितनी साधना की है तुमने ?

अरे रमेश ! तुमने अभी तक किया ही कितना संघर्ष है ? अब तो तुम मोटे भी हो रहे हो। देखो न उस उल्कापिण्ड को, जो अपने ताप की ऊष्मा से ही जलता रहता है। आदम के बन्दों में तप की बात पूछनी है तो पूछो यीशु के कास पर टँगे उस शरीर से, जो युगों से लटका पड़ा है अधोमुखी ! कहाँ मिल पाया है अभी तक न्याय उसे ? यहाँ तक कि उसके अनुयायी ही उसकी करुणा-प्रेम भूल गए हैं। उसका जीवन-सन्देश बस गिरजाघरों में ही बन्द है। यही नहीं अहिंसावतार महावीर, करुणावतार बुद्ध, लोकावतार नानक, नीति-आचरण प्रतिरूप गान्धी आदि भी दीवारों पर निरुपाय होकर टँगे पड़े हैं। उनकी साधना वहीं 'मेख' की सीमा में दम तोड़ रही है। करुणा, प्रेम, सच्चाई, जनता की सेवा जीवित हैं बस शब्दों में, भजन-कीर्तनों में, व्यासगद्दी के उपदेशों में। इन पृथ्वी पुत्रों ने मानवीय श्रम का

गौरव बढ़ाया था, किन्तु इनके अनुयायी आदमी के अस्तित्व का आनादर किए जा रहे हैं। इन देशों में चित्र-मूर्ति आदि पूजास्थलों में ही नहीं, कमरों की शोभा भी बढ़ाते दिखाई देते हैं, पर उनकी चेतना-विचार में ये कभी आचरित नहीं हो पाते हैं। इन्हें आचरण में लाना ही मेरे लिए सम्पूर्ण पाठ है और कुछ नया नहीं पढ़ना है मुझे। मेरी निरन्तर साधना वस यही रहेगी कि मैं शेष जीवन को टूटन से रोकूँ। यही वचनाचरण की साधना है मेरी।

२२. दिशा-भ्रम

दिशा ! तुम कितनी मधुर हो, कितनी सुन्दर, कितनी निश्चित, कितनी भादक, कितनी वास्तव, फिर भी पहुँच के लिए कितनी अगम्य। दिशा, तुम भविष्यत् भी हो, निराकार भी। इसलिए तुम्हारे अरूप सम्बन्ध की सम्भावना भ्रम में बनी रहती है। मैं तो अनेकानेक पगदण्डियों पर से गुज़रता हुआ आ पाया हूँ इस राजमार्ग के किनारे पर। यदि तुम मुझे राजमार्ग पर चलने देना चाहती हो, तो तुम्हें अपना सम्बन्ध भ्रम से तोड़ लेना पड़ेगा। भ्रम के कुहासे में मैं तुम्हारी ओर नहीं बढ़ पाऊँगा। मुझे चाहिए स्पष्ट दिशा, उस तरह की स्पष्ट जैसे कि एक मजदूर को दिन-भर के श्रम के बाद शाम को मजदूरी मिल जाती है। मैं जीवन मूल्यों के लिए मजदूरी कर रहा हूँ, मार्ग पर चल रहा हूँ। रास्ते के साथी हैं मेरे संघर्षशील मानव। यदि चाहो तो मेरे साथ रहो, अन्यथा जिधर मेरा मुँह उठ जाएगा, उधर ही आदमी को साथ लेकर, मुट्ठियाँ ताने हुए बीहड़ में बढ़ जाऊँगा और तब भी विश्वास होगा दिशा का, नई दिशा का। निश्चय ही वहाँ भी संघर्षशील मानव को अँमराई की छाँह मिलेगी।

२३. व्यापक झूठ-सच

आदर्शवादी कहते हैं कि जीवन में झूठ और दिखावा नहीं होने चाहिए। झूठे जीवन से जीवन का 'परम'—ईश्वर दूर भाग जाता है। मैं भी इस विषय में सोचता हूँ, किन्तु प्रक्रिया कुछ भिन्न है। झूठ में सच को पाने की उत्सुकता, अकुलाहट, सत्य की ओर प्रेरित करती है। छल-कपटाचरण में सात्विक मन सहज प्रश्न कर उठता है कि ऐसा क्यों? यह 'क्यों' मुझे जीवन के बृहत्तर सत्य की ओर प्रेरित करता है। तब वह आधारभूत झूठ अपनी कायाकल्प करके सत्यानुरूप हो जाता है अथवा होने लगता है। वह बाधा नहीं डालता। ऐसे ही जिज्ञासु केलिए दिखावा भी 'वास्तव' की ओर उन्मुख करता है। 'विचार' प्रबल होकर अनुभव कराता है कि जब 'दिखावे' का, झूठ का प्रभाव पड़ता है, पड़ सकता है, तो वास्तव का, सच का प्रभाव पड़ना भी अवश्यम्भावी है। झूठ, दिखावा, प्रपंचादि भी अपनी चमक रखते हैं, परन्तु ये व्यापक सच्चाई के सामने जाने में लजाते हैं। ये सच्चाई का सामना होने पर उसमें समाहित हो जाते हैं अर्थात् उनका भासित रूप समाप्त हो जाता है। सच तो यह है कि मानवीय सत्य के सामने झूठ-दिखावा अस्तित्वहीन हो जाते हैं। बस, आवश्यकता इस बात की है कि जीवन में सच, वास्तव के अनुभव की उत्कृष्ट अकुलाहट बनी रहनी चाहिए। परिणाम निश्चित है कि एक-न-एक दिन आचरण से झूठ-दिखावा सहज ही तिरोहित हो जाएँगे।

२४. समर्पण

सुना गया है कि बुलबुल जब गीत गाती है, तो पहले काँटे की नोंक को अपने अंग में चुभा लेती है। उस नोंक चुभे शरीर से उसका जो स्वर निकलता है, उसको लोग 'बुलबुल का गीत' कहते हैं। उसकी आवाज़ में मुखरित टीस, पीड़ा यदि गीत है, तो वह अप्रभावी नहीं रह सकता। किन्तु, मात्र

[अस्ती]

मरजीवा

अपने सुख में डूबा यह संसार पीड़ा की टीस को कहाँ महत्त्व देता है ? पीड़ा की तो मज्जाक बनाई जाती है, उपेक्षा तो होती ही रहती है। सुखी, प्राप्त सुविधाओं में निमग्न, व्यक्ति अपनी मानसिकता में पर-पीड़ा की टीस को मिलाना ही नहीं चाहता, अपितु पीड़ा देकर अपने सुख की उत्कृष्टता सिद्ध करता हुआ, छल-प्रपंच को दुनिया के लिए आवश्यक मानता है। समष्टि वृत्ति से सोचने, उसके परिणाम पर विश्वास करने का समय उस पर नहीं है। इसीलिए जीवन में बिखराव-टूटन बनी रहती है। निरन्तर अभाव-विसंगति, उपेक्षा सहते-सहते एकाकी जीवन टूटता चला जाता है, तब वह धरती पर चलना रोक देता है और भाग्यवाद का पल्ला पकड़कर उदासीन ज्ञानी, भक्त आदि होने में अपने को अवरुद्ध करता चला जाता है। उसकी अभिव्यक्ति को देखकर हम सोचने लगते हैं कि भक्ति का स्रोत फूट पड़ा है इसके हृदय में। वास्तविकता यह है कि इसका मानस बुलबुल के स्वर में गूँज रहा होता है। वह हृदय जो विवशताओं, चोटों से विंध चुका है वह अपने में ही सीमित हो गया है। यदि उसे दिशा मिले तो ऐसा अनुभवी स्वर क्रान्ति का जीवन बन सकता है। जैसे बुलबुल एक अपरचित पिंजरे में अपने को सोंप देती है, वैसे ही यह जीवन भी सीमित दायरे में अपने जीवन की गुलाम घड़ियों को कट जाने के लिए, नियति के सहारे, छोड़ देता है। तब वह सब कुछ को सहना अपने भाग्य का फल ही मान लेता है। मेरे हृदय में विचारान्ति की लपटें प्रायः उठती रहती हैं। जिन-जिन के हृदय इसप्रकार की ऊष्मा से तापित रहते हैं, उन सभी को मेरा समर्पण।

२५. स्मृति-चिह्न

मनुष्य, संसार में अपने पीछे अपनी स्मृति अथवा उसके कोई चिह्न विशेष छोड़ने के लिए उत्सुक बना रहता है। पेट की आग को शान्त करने के बाद, कपड़े और आवास की समस्याओं में जूझने के बाद, आदमी स्मृतियों को

यश-कायों को, इतिहास में अपना नाम अंकित करने की क्रियाओं को प्रती-
कित करने, कर्तव्यपूर्ति में अधिक परिश्रम करने तथा अपनी कोई अर्जित
सम्पत्ति उस दिशा में लगाने की चेष्टा करता है। इसीलिए तो आदमी के
इतिहास में युद्ध-घटनाओं के अतिरिक्त, धैर्यशाली होने, दानी होने, धर्मध्वज
होकर बलिदान देने, नीति के आधार पर अपने आचरण को समर्पित करने
आदि के स्मृति-चिह्न अब भी स्मरणीय माने जाते हैं। मुझे तो लगता है
कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, समूह, राष्ट्र अथवा जाति ने अपनी अमिटता की
छाप, इतिहास के वक्ष पर, अंकित की है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस
इतिहास-गति में आदमी का संघर्ष ही प्रबलतम रूप में मुखर हुआ है। आदमी
के भविष्य का अनिश्चय, निराशाजन्य अन्धकार की स्थिति में, हृदय की
संघर्षजात रोशनी को बुझा नहीं पाता है। समूह होकर, मुझे भी ऐसी ही
धुन सवार है कि जीवन-सागर में कुछ ऐसा मन्थन कहूँ कि खदबद मच
जाए। लहरें उद्वेलित हो उठें। यह कह पाना कठिन है कि वे तरंगें लहरें
बन पाएँगी या नहीं ? तट को स्पर्श कर पाएँगी या नहीं ? हाँ, कुछ-न-कुछ
तो उद्वेलन पैदा करेंगी ही, ऐसा मेरा विश्वास है। उसी ओर उन्मुख हूँ।

२६. 'न कुछ' भला

मुझे यह कथन 'न कुछ से कुछ भला' अनुभव सिद्ध नहीं लगता। 'अनुभव
सिद्ध' अर्थात् कुछ कर गुज़रने की प्रेरणा देने वाला। 'कुछ' होने के कारण,
सम्भावना-संरचना की धरती को प्राप्त कर पाना कठिन है, जबकि 'कुछ नहीं'
होने में उर्वरा भूमि से कुछ-न-कुछ उगने की सम्भावना बनी रहती है।
इसलिए 'कुछ' (समर्थिग) में जो अधकचरापन अनुभव में आता है, वह न
'दीन' का रहने देता है और न 'दुनिया' का। मुझे तो सदा एक होकर रहने'
में बड़ी तृप्ति और विश्वास का अनुभव होता है। चाहे 'इधर के अथवा उधर

के' में न इधर के और न उधर के। इससे जीवन की सूक्ष्मता, जीवन-प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित नहीं होता। अतः कहना है कि 'कुछ-न-कुछ' से 'कुछ नहीं' ज्यादा अच्छा। ऐसा चिन्तन, निश्चित ही दिखावे के मुखौटे को चेहरे से उतारकर, चेहरे के सही रंग को धूप में पहचानने का अवसर देता है। ऐसे मुखौटे जब चेहरे से उतरते हैं तब, अवसरवादी वृत्ति का पर्दाफाश होता है।

२७. अन्तिम साधना : आत्मवान् होना है

मित्र ! दूसरी दुनिया दूसरी है। मैं तो इस धरती के नर्क से भी घृणा नहीं कर पाता। मुझे तो यही चितन्तन-जिज्ञासा कुरेदती रहती है कि आदमी को, आदमी के आचरण को, वे सहज प्रवृत्तियाँ क्यों नहीं प्रभावित कर पातीं, जिससे आदमी शोषण के बन्धन से, आडम्बर के मुखौटे से, शहरी होने की कोरी नकल-तर्क से मुक्ति पासके। धर्मानुयायी मनुष्य जिस वाचिक आदर्श को लेकर क्रोध, मोह, ईर्ष्या, लोभ, मद-मत्सर आदि वृत्तियों की उपेक्षा करता आया है। उन्हीं ऋणात्मक वृत्तियों के धनात्मक पक्ष को लेकर शोषण, अत्याचार, अनाचार के विरुद्ध मोर्चाबन्दी भी की जा सकती है।

इस वसुन्धरा के हरे-भरे आँगन में न जाने कितना प्रेम लुटाया गया है। कितना क्रोध धरती के कण-कण में रक्तरूप से बिम्बित हुआ है, कितना झूठ, अपनी प्रकृति से, आदमी को कठपुतली बनाकर नचाता रहा है। फिर भी ये वृत्तियाँ अपनी ऋणात्मकता के लिए ही जानी जाती हैं। यदि इनके समक्ष समष्टि हित रहता, तो ये अब तक अपनी ऋणात्मकता खो देने में समर्थ हो सकती थीं।

मुझे लगता रहता है कि इस दृश्य की समग्रता में, 'आदमी' रूप में, प्रकृति एक सम्पूर्ण कला है। यद्यपि इस कला का फलक—आचरण अभी तक अपूर्ण, अमानवीय ही बना हुआ है। इसका कारण यह है कि मनुष्य

अन्तिम साधना : आत्मवान् होना है

[तिरासी]

यश-कार्यों को, इतिहास में अपना नाम अंकित करने की क्रियाओं को प्रती-
कित करने, कर्तव्यपूर्ति में अधिक परिश्रम करने तथा अपनी कोई अर्जित
सम्पत्ति उस दिशा में लगाने की चेष्टा करता है। इसीलिए तो आदमी के
इतिहास में युद्ध-घटनाओं के अतिरिक्त, धैर्यशाली होने, दानी होने, धर्मध्वज
होकर वलिदान देने, नीति के आधार पर अपने आचरण को समर्पित करने
आदि के स्मृति-चिह्न अब भी स्मरणीय माने जाते हैं। मुझे तो लगता है
कि प्रायः प्रत्येक व्यक्ति, समूह, राष्ट्र अथवा जाति ने अपनी अमिटता की
छाप, इतिहास के वक्ष पर, अंकित की है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस
इतिहास-गति में आदमी का संघर्ष ही प्रबलतम रूप में मुखर हुआ है। आदमी
के भविष्य का अनिश्चय, निराशाजन्य अन्धकार की स्थिति में, हृदय की
संघर्षजात रोशनी को बुझा नहीं पाता है। समूह होकर, मुझे भी ऐसी ही
धुन सवार है कि जीवन-सागर में कुछ ऐसा मन्थन कहूँ कि खदबद मच
जाए। लहरें उद्वेलित हो उठें। यह कह पाना कठिन है कि वे तरंगें लहरें
वन पाएँगी या नहीं ? तट को स्पर्श कर पाएँगी या नहीं ? हाँ, कुछ-न-कुछ
तो उद्वेलन पैदा करेंगी ही, ऐसा मेरा विश्वास है। उसी ओर उन्मुख हूँ।

२६. 'न कुछ' भला

मुझे यह कथन 'न कुछ से कुछ भला' अनुभव सिद्ध नहीं लगता। 'अनुभव
सिद्ध' अर्थात् कुछ कर गुजरने की प्रेरणा देने वाला। 'कुछ' होने के कारण,
सम्भावना-संरचना की धरती को प्राप्त कर पाना कठिन है, जबकि 'कुछ नहीं'
होने में उर्वरा भूमि से कुछ-न-कुछ उगने की सम्भावना बनी रहती है।
इसलिए 'कुछ' (समर्थिग) में जो अटकचरापम अनुभव में आता है, वह न
'दीन' का रहने देता है और न 'दुनिया' का। मुझे तो सदा एक होकर रहने
में बड़ी तृप्ति और विश्वास का अनुभव होता है। चाहे 'इधर के अथवा उधर

के' में न इधर के और न उधर के। इससे जीवन की सूक्ष्मता, जीवन-प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित नहीं होता। अतः कहना है कि 'कुछ-न-कुछ' से 'कुछ नहीं' ज्यादा अच्छा। ऐसा चिन्तन, निश्चित ही दिखावे के मुखौटे को चेहरे से उतारकर, चेहरे के सही रंग को धूप में पहचानने का अवसर देता है। ऐसे मुखौटे जब चेहरे से उतरते हैं तब, अवसरवादी वृत्ति का पर्दाफाश होता है।

२७. अन्तिम साधना : आत्मवान् होना है

मित्र ! दूसरी दुनिया दूसरी है। मैं तो इस धरती के नर्क से भी घृणा नहीं कर पाता। मुझे तो यही चित्तन्तन-जिज्ञासा कुरेदती रहती है कि आदमी को, आदमी के आचरण को, वे सहज प्रवृत्तियाँ क्यों नहीं प्रभावित कर पातीं, जिससे आदमी शोषण के बन्धन से, आडम्बर के मुखौटे से, शहरी होने की कोरी नक़ल-तर्क से मुक्ति पासके। धर्मानुयायी मनुष्य जिस वाचिक आदर्श को लेकर क्रोध, मोह, ईर्ष्या, लोभ, मद-मत्सर आदि वृत्तियों की उपेक्षा करता आया है। उन्हीं ऋणात्मक वृत्तियों के धनात्मक पक्ष को लेकर शोषण, भ्रष्टाचार, अनाचार के विरुद्ध मोर्चाबन्दी भी की जा सकती है।

इस वसुन्धरा के हरे-भरे आँगन में न जाने कितना प्रेम लुटाया गया है, कितना क्रोध धरती के कण-कण में रक्तरूप से बिम्बित हुआ है, कितना झूठ, अपनी प्रकृति से, आदमी को कठपुतली बनाकर नचाता रहा है। फिर भी ये वृत्तियाँ अपनी ऋणात्मकता के लिए ही जानी जाती हैं। यदि इनके समक्ष समष्टि हित रहता, तो ये अब तक अपनी ऋणात्मकता खो देने में समर्थ हो सकती थीं।

मुझे लगता रहता है कि इस दृश्य की समग्रता में, 'आदमी' रूप में, प्रकृति एक सम्पूर्ण कला है। यद्यपि इस कला का फलक—आचरण अभी तक अपूर्ण, अमानवीय ही बना हुआ है। इसका कारण यह है कि मनुष्य

अन्तिम साधना : आत्मवान् होना है

[तिरासी]

रूप कला अपने 'सम्पूर्ण' को समर्पित नहीं हो पाई है। जब-जब जीवन, व्यवहार में, समष्टि को समर्पित होता है, तब-तब आदमी द्वारा व्यवस्थित समाज, उच्च और उपयोगी कला के रूप में प्रतिष्ठा पाता है और तभी परिवेश बनता है सम, शोषण मुक्त। इसलिए मनुष्य की अन्तिम साधना आत्मवान् होना है : आत्मवत् सर्वभूतेषु।





खरी कसौटी राम की, खोटा टिकै न कोय ।
राम कसौटी सो टिकै, जो मरजीवा होय ॥

हमारे द्वारा प्रकाशित तथा प्रचारित ग्रन्थ

१. वैष्णवकवि कर्णपूर (आदित्य शर्मा)	रु० ३६.००
२. मरजीवा (डा० रमेशचन्द्र मिश्र)	रु० २०.००
३. श्रीपादसप्ततिः (श्रीपादपराग-व्याख्या) (")	रु० ४०.००
४. श्रीकृष्णचरितम् (डा० रमेशचन्द्र शुक्ल)	रु० ३०.००
५. सुगमरामायणम् (")	रु० ३५.००
६. सदाशयसमुच्चयः (पं० टी० बी० परमेश्वर अय्यरः)	रु० १५.००
७. आभाणकमञ्जरी (" ")	रु० १५.००
८. मेघदूतः एक विश्लेषण (डा० देवीदत्त शर्मा)	रु० २०.००
९. रघुवंशः एक विश्लेषण (" ")	रु० २०.००
१०. अभिज्ञानशाकुन्तलः एक विश्लेषण (")	रु० २०.००
११. जय भारतभूमे ! (काव्यम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ३०.००
१२. अर्वाचीनसंस्कृतसाहित्यपरिचयः (प्रथम खण्ड) (")	रु० ३०.००
१३. " " " (द्वितीय खण्डः) (")	रु० ३०.००
१४. राधाकृष्णरसायनम् (श्री ओट्टूर उणिण नम्बूदिरिपादः)	रु० ४०.००
१५. अभिनवहनुमन्नाटकम् (डा० रमेशचन्द्र शुक्लः)	रु० २०.००
१६. साधारणीकरणः प्राच्य और प्रतीच्य चिन्तनः (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)	रु० ५०.००
१७. भाति मे भारतम् (काव्यम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० ४०.००
१८. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना (डा० हरिनारायण दीक्षित)	रु० १५०.००
१९. साधारणीकरण और समानान्तर चिन्तन (डा० सुलेखचन्द्र शर्मा)	रु० २००.००
२०. अभिशापम् (नाटकम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० २०.००
२१. महाकवी रत्नाकरस्तोत्रं हरविजयञ्च (डा० कृष्णकान्त शुक्ल)	रु० १००.००
२२. साहित्यकौतुकम् (पं० टी० बी० परमेश्वर अय्यरः)	रु० ४०.००
२३. पूर्णकुम्भः (ललितनिबन्धसंग्रहः) (पं० विष्णुकान्त शुक्लः)	रु० २०.००
२४. स्फूर्तिसप्तशती (डा० शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदी)	रु० ३०.००
२५. रसदर्शनम् (डा० रमेशचन्द्र शुक्लः)	रु० ५०.००
२६. श्रीवदरीशतरङ्गिणी (काव्यम्) (श्रीमुन्दरराजः)	रु० २०.००
२७. सुरश्मिकाश्मीरम् (") (")	रु० २०.००
२८. पुरश्चरणकमलम् (नाटकम्) (डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० १०.००
२९. श्रीवदरीशसुप्रभातम् (डा० सी० आर० स्वामिनाथन्)	रु० १०.००
३०. श्रीउच्छिष्टमहागणपतिकल्पः (")	रु० ८.००
३१. पण्डितराजीयम् (नाटकम्) डा० रमाकान्त शुक्लः)	रु० २०.००

देववाणी-प्रकाशनम्, ६ वाणी-विहार, नयी दिल्ली-११००५६